परिषद्-निबन्धावली

[प्रयाग विश्व-विद्यालय-हिन्दी-परिषद् मे, हिन्दी-
साहित्य के विविध अंगो पर, पढ़े गये
विवेचनात्मक निबन्ध]

सम्पादक

श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा एम्० ए०

[अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, प्रयाग-विश्व-विद्यालय]

प्रकाशक

साहित्य-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग

प्रथम बार } { मूल्य १)

भूमिका

परिषद्-निबन्धावली का दूसरा भाग हिन्दी प्रेमियो के सामने है। प्रस्तुत पुस्तक मे प्रयाग विश्व-विद्यालय-हिन्दी-परिषद् मे १९२८-३० मे पढ़े गये कुछ निबन्ध सगृहीत है। शेष निबधो मे से कुछ कई कठिनाइयो के कारण दूसरे भाग मे सम्मिलित नहीं किये जा सके। ये निबंध संभवत: भाग ३ मे प्रकाशित किये जा सकेंगे।

परिषद्-निबधावली भाग एक के स्वागत से उत्साहित होकर ही परिषद् ने भाग दो हिन्दी-प्रेमियो के सामने रखने का साहस किया है। परिषद् को विश्वास है कि पारखी हिन्दीप्रेमी इस भाग का भी हृदय से स्वागत करेंगे। इन निबधो की छपाई आदि की समस्त देख-भाल श्रीरामकुमार वर्मा एम्० ए० ने की है। अत वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

धीरेन्द्र वर्मा

परिषद्-निबन्धावली

[१९२८-२९ १९२९-३०]

१ मीराँबाई की जीवनी और कविता पर कुछ विचार—

—कुँवर कृष्ण बी० ए०

२ हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव

—गणेशप्रसाद द्विवेदी एम्० ए०

३ भारत मे समाचारपत्रो का विकास और हिन्दी अखबार-नवीसी पर एक दृष्टि —रामधर दुबे बी० ए०

४ हिन्दी-साहित्य मे सामाजिक इतिहास

—रमाशकर शुक्ल एम्० ए०

५. कबीर: सिद्धान्त और रहस्यवाद

—सोमनाथ गुप्त एम्० ए०

६. अयोध्याकांड के मुख्य पात्रो पर धर्मसकट और उनका निर्वाह —बलभद्रप्रसाद मिश्र बी० ए०

७. कविवर नन्ददास कृत रासपचाध्यायी

—रामकुमार वर्मा एम्० ए०

परिषद्-निबन्धावली

मीरांबाई की जीवनी
और
कविता पर कुछ विचार

जीवनी

मीरांबाई की जीवनी, सभ्यता के इतिहास मे, एक विचित्र पहेली है। उसमें लौकिक और अलौकिक, दोनो ही प्रकार की, बातो का समावेश है। राज-घराना

से सम्बन्ध होने पर भी वे उससे विरक्त थी, और भक्त होने के साथ साथ कवि थी। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य गिरिधर के प्रेम का कीर्तन करना था, मानो भक्त की भावुकता और कवि की रसिकता मीराँ के स्वरूप मे प्रादुर्भूत हुई थी। परन्तु जिस समय हम उसी मीराँ के विषय मे कुछ लिखने का प्रयास करते हैं, उस समय हमारे सामने बाधाओं का एक बड़ा पहाड़ आकर खडा हो जाता है। इसका कारण प्रामाणिक सामग्री का अभाव है।

साधन

किसी लेखक के विषय मे कुछ जानने के केवल दो साधन है—आन्तरिक और बाह्य। मीरा की कृति-स्वरूप हमे केवल थोड़े से पद, कई पुस्तको मे सग्रहीत, मिलते है। ये पद प्रधानतः उनकी प्रगाढ़ भक्ति के प्रदर्शक है और केवल गौण रूप से उनकी जीवनी पर प्रकाश डालते है।[१]

बाह्य साधन दो प्रकार के हैं—तत्कालीन एव आधुनिक। इनके विषय मे यद्यपि कोई तत्कालीन ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता,[२] पर भक्त-ग्रथो मे इनका उल्लेख कई बार हुआ है।

---

१. शब्दावली—पृ० २६ शब्द ५६; पृ० ६७ शब्द ३२, पृ० ६५ शब्द २६, पृष्ठ २५ शब्द ५६, पृ० ३७-३८ श० १-२; पृ० ५३ श० ४ आदि।

२ तुज़ुक बाबरी, आइने अकबरी, मुहणोत नैणसी की ख्यात
(पृ० ३६८) (पृ० ५७३) (पृ० ४७)

नाभादास ने अपने भक्तमाल[१] में इनके प्रेम की महिमा पर एक पद लिखा, तो उनके टीकाकार प्रियदास ने जन्मभूमि, श्वसुर-गृह के कष्ट, अकबर से भेंट आदि दन्त-कथाओं का पूरा ब्योरा ही लिख डाला। मूल गोसाईं-चरित[२] में तुलसी को पत्रिका भेजने का उल्लेख है, तो 'वैष्णवन की वार्ताओं'[३] में श्रीआचार्यजी की सेविका न बनने के कारण उनकी निन्दा करा डाली गई है। अस्तु, इन ग्रंथों की सहायता सावधानी से लेनी चाहिए।

आधुनिक उल्लेखों में टाड "राजस्थान"[४] मुं० देवीप्रसाद्-रचित "श्रीमीराँबाई का जीवन-चरित", गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा-लिखित "उदयपुर राज्य का इतिहास"[५] तथा कविराजा

---

१. भक्तमाल पृ० ६९४-७०४, Selections by L Sita Ram Book II. p. 338-41.

२. नागरी प्र० पत्रिका भाग ७ सं० १९८३ पृ० ३७५ व ३९७

३ चौरासी वैष्णवन की वार्ता नं० ५४ पृ० २०७-८; नं० ६२ पृ० ३४२-६८, नं० ४१ पृ० १६१-६२, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता—नं० १५ पृ० ६४-६६; नं० ४८ पृ० १०६-७, पृ० ४३४-३५

४ टाड राजस्थान (आक्स० प्रे०) भाग १ पृ० ३३७; भाग २ पृ० ९५१, भाग ३ पृ० १८१८.

५. पृ० ५१; ६३, ३१०—१६, ३४७, ३५८-६० । नोट पृ० ३५८, पृ० ३२६

श्यामलदास एवं हरविलास शारदा के लेख१ प्रधान साधन हैं। जनश्रुति तथा चारण गाथाओं के आधार पर होने के कारण "राजस्थान" इतना विश्वसनीय नहीं है, जितने इन वर्तमान ऐतिहासिक विद्वानों के उल्लेख, जो इतिहास-सम्बन्धी सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री के आधार पर बड़ी खोज के साथ लिखे गये हैं। अन्य लेखकों ने इन्हीं प्राचीन अथवा अर्वाचीन साधनो के आधार पर लिखा है। उनका उल्लेख करना केवल साधनो की नामावली बढ़ाना होगा।

---

१. हरविलास शारदा कृत 'महराना सांगा' पृ० ६५-६६ नोट। क० श्यामलदास कृत 'वीर-विनोद'

२. ध्रुवदास शारदा कृत "भक्तनामावली" '(L Sita Rams selections Book II); "शिवसिंह सरोज" पृ० ४७५; कार्तिक-प्रसाद खत्री कृत "मीरॉबाई का जीवन-चरित्र"; मु० उबेदुल्लाख़ां फ़ईती कृत "तारीख़ तुहफ़ए राजस्थान"; जगदीशसिंह गहलोत "मारवाड का इतिहास"; ग्रियर्सन "माडर्न वर्नाकुलर लिट्रेचर" पृ० १२; फ्रेज़र "लिट्रेरी हिस्ट्री आफ़ इण्डिया पृ० ३३७-३३८, की (keay) "हिन्दी-लिट्रेचर पृ० २६; ग्रीवज़ पृ० ४६ "मिश्रबन्धु-विनोद" पृ० २६२-६६; "काव्यदोहन" भाग ७ पृ० १-५३ (मीराबाई); सीतारामशरण रूपकला "मीराबाई की जीवनी" शिवनन्दनसहाय "श्रीगोस्वामी तुलसीदास" पृ० ११०-११६; "सतीमंडल" भाग ७ पृ० १४०-१४८ (K. V. Trivedi; "Wilson's Religious Sects of the Hindus"

मीरां के विषय मे किसी बात की जॉच करने के लिए ये साधन ही एक मात्र सच्ची कसौटी हैं।

जन्मकाल

मीरॉबाई के विषय मे मुख्य भ्रान्ति उनके जीवन-काल पर है।[१] चित्तौड़ में, कीर्तिस्तम्भ के पास, कुम्भ स्वामी

---

p. 138; Encyclopædia of Religion and Ethics Vol. 2 p. 5466; Macnicol's "Indian Theism" p. 133; K M Thaveri's" Milistones in Gujrati Literature" p. 28-34 and p. 108; "The Sikh Religion" Vol VI p. 342 (Reproduction of M. Macaliffe's articles in the 'Indian Antiquary 1903), "East & West" (August 1910 p. 728) Mirabai, her life and Songs" (Viswa Bharati January 1929)
"सुधा (फाल्गुन सं० १९८४); "माधुरी" (चैत्र सं० १९८४) "बसन्त" (१९६१, १९६६, १९६९) ना० प्र० प० (भाग १ पृ० ११४, १२१) आदि

१. टाड.........स० १४७५-१५२५ के बीच में; दूदा की पुत्री—कुम्भ की रानी।

२, शिवसिंह तथा ग्रियर्सन.........सं० १४७० विवाह सं० १४७५ पति मृत्यु, रतियाधिपति की पुत्री—कुम्भ की रानी।

३. कार्तिकप्रसाद सं० १५७५ जन्म,.......जयमल की पुत्री—कुम्भ की रानी।

४ झावेरी तथा की .... सं० १४६०-१५२७ के बीच मे कुम्भ के युवराज भोज की पत्नी।

५ के० वी० त्रिवेदी . ...स० १४८० जन्म, स० १४९५ विवाह, सं० १५२० मृत्यु, जयमल की पुत्रीः युवराज कुम्भ की पत्नी

आदि-वराह के दो विष्णुमन्दिर, एक ही ऊँची कुर्सी पर, पास-पास बने हुए हैं। लोगो मे यह प्रसिद्धि हो गई है कि बडा मन्दिर महाराना कुम्भ ने और छोटा उनकी रानी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीरांबाई को महाराना कुम्भ की रानी लिख दिया है, जो भ्रमपूर्ण है। सम्भवत: मीरां इस मन्दिर मे पूजन-कीर्तन करती रही होंगी। कुम्भश्याम (कुम्भस्वामी) का मन्दिर, जिसे लोग भ्रम से (मीरांबाई का मन्दिर) कहते है, संवत् १५०५ मे महाराना कुम्भ ने बनवाया था। उसमे उक्त सवत् की यह प्रशस्ति है—

"कुम्भास्वामिन आलय व्यरचयच्छ्रीकुम्भकर्णो नृप. १२"

इस प्रकार एक मात्र पक्के प्रमाण को, जिस पर टाड साहब

---

६. हरिश्चन्द्र . .. .सं० १६२०-३० मृत्यु।

७. तपस्वीरामजी.........सं० १६४५ मृत्यु; रत्नसेन पुत्री—भोज-पत्नी।

८. देवीदास, श्यामलदास, सारदा तथा ओझा जी. ....सं० १५५५-१६०३ के बीच, रत्नसिह पुत्री—भोजपत्नी

९. मिश्रबन्धु तथा ग्रीवज्र.......जन्म सं० १५७३; रत्नसिह पुत्रीः भोजराज-पत्नी।

१०. मेकालिफ़ प्रभृति..... सं० १५६१-१६०३; रत्नसिह पुत्री—भोजराज-पुत्री।

११. अनाथनाथ बसु........

१२. उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृ० ५१; पृ० ३१०, पृ०

का मत निर्भर था, वास्तुकला-विशारदो ने निर्मूल सिद्धकर दिया है। यदि टॉड साहब ने यह प्रशस्ति पढ़ ली होती, तो आज मीरॉ के जन्मकाल पर अनेक मत न होते।

साथ ही अन्य उपलब्ध साधनो से भी उन्होने सहायता नही ली जान पड़ती, क्योकि मीरॉ ने अपना परिचय स्वय इस प्रकार दिया है—

"मेढतिया घर जनम लियो है मीरा नाम कहायो"१।

मीरॉ की इस पक्ति से उनके जीवन पर पर्य्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। राठौड़ो की प्रसिद्ध मेडतिया शाखा के जन्मदाता, राजस्थान के प्रसिद्ध नगर जोधपुर के सस्थापक राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र राव दूदाजी थे, जिनका जन्म सवत् १४९७ मे हुआ था। राव दूदाजी बडे पराक्रमी थे। उन्होने निज बाहुबल द्वारा सवत् १५१८ मे मेडते मे अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर मेड़तिया शाखा चलाई।२ अतएव मेडतिया जी का जन्म सवत्

३२८-६०

१ शब्दावली पृ० ६७ शब्द ३२

नोट—मीरॉ को श्वसुर-गृह मे मेडतियाजी मेडतणी या राठोड जी कहते थे, जिसका अर्थ है कि वे मेडतिये राठौडों की बेटी थी। श्वसुर गृह मे बहू को प्राय: पितृकुल या पितृस्थान के नाम से सम्बोधन किया जाता है; यथा राठोडजी, चोहानजी या कानपुरवाली।

२ मारवाड का इतिहास जगदीशसिंह गहलोत); सुधा (फाल्गुन स० १९८४) ना० प्र० पत्रिका (भाग १ पृ० ११८)

१५१८ मे, या उसके बाद हुआ होगा। महाराना कुम्भ संवत् १५२५ मे अपने पुत्र ऊदा के हाथ से मारे गये। तो क्या मीरॉ का विवाहादि सब ७ वर्ष के भीतर ही समाप्त हो गया? फिर उन्होंने कुम्भश्याम का मन्दिर, जिसका निर्माण-काल संवत् १५०५ निश्चित हो चुका है, कब बनवाया होगा, जब कि उनके माने जानेवाले पिता (दूदाजी) का जन्म संवत् १४८७ मे हुआ था?

टाड साहब के मतानुसार मीरॉ को कुम्भ की रानी मानने मे और भी कई कठिनाइयॉ है। मीरॉ ने राणाजी द्वारा कष्ट दिये जाने का उल्लेख किया है। अतएव प्रश्न उठता है कि वे राणा कौन थे?

कुम्भ स्वयं परम वैष्णव तथा कृष्णभक्त थे। उनके बनाये विष्णुमन्दिर तथा गीतगोविन्द की टीका ही इसके प्रचुर प्रमाण है। टीका के "श्रीगोविन्द पदारविन्द मकरन्द चचद्विरेफेण" "हृदीश पर वासुदेवं निधत्ते" आदि प्रकरण उनकी कृष्ण-भक्ति के परिचायक हैं।[1] अतएव उनका अपनी पत्नी को गिरिधरकी भक्ति से रोकना और उन्हे नाना प्रकार के कष्ट पहुँचाना असंगत प्रतीत होता है। तब फिर मीरॉ को किस राणा ने कष्ट दिये? कुम्भ के पिता मोकलदेव ने, अथवा कुम्भ के उत्तरा-

---

1 काव्यदोहन भाग ७, पृ० १-४३ (भूमिका "मीरॉबाई")

धिकारी ऊदा ने ? मीरा के पिता दूदाजी का जन्म संवत् १४९७ मे हुआ था और युवराज कुम्भ पिता की मृत्यु के पश्चात् संवत् १४९० मे, गद्दी पर बैठे । १ इसका अभिप्राय यह है कि मीराँ के माने जानेवाले पिताका जन्म, उनके माने जानेवाले पति के सिंहासनारूढ़ होने के भी ७ वर्ष पश्चात् हुआ । अतएव मीरा का युवराज कुम्भ से विवाह होना असम्भव है और मोकलदेव मीरा के वह ससुर नही हो सकते, जिसका उल्लेख मीरा ने किया है । यह ससुर वास्तव मे कौन हो सकते है, यह हम आगे दिखायेगे । अब रहा कुम्भ के उत्तराधिकारी के विषय मे, सो थे उनके पुत्र (न कि देवर) ऊदा (उदयकर्ण) । मीरा ने स्वय देवर से कष्ट पाने का उल्लेख किया है । यदि यह बात हम सच मान लें और जिसे झूठ मानने का कोई कारण प्रतीत नही होता; तो यह सिद्ध ही है कि मीरा का विवाह कुम्भ से नही हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से ससुर और देवर वाले मीरा के दोनो उल्लेख असत्य निर्धारित हो जाते हैं ।२ "की" महाशय का यह मत कि कुम्भ के उत्तराधिकारी पुत्र भोज ऊदा के भाई थे, इतिहास-विरुद्ध है ।३ उन्होंने कदाचित् यह-कल्पना इसलिए की होगी कि ऐसा करने से यह प्रमाणित हो जायगा कि मीराँ का विवाह भोज से हुआ और उनको कष्ट दिये

---

१. महाराना कुम्भ (शारदा)

२. काव्य-दोहन भाग ७ पद ४१; पद ४०, पद ५० शब्दावली

३. Keay "Hindi Literature" p. 29.

उनके छोटे भाई, मीरा के देवर, ऊदा ने।

प्रसिद्ध है कि मीराँ ने अपने पति की देखादेखी गीतगोविन्द पर टीका लिखी थी। कुम्भ ने अपनी "रसिक-प्रिया" नाम की टीका मे "अपूर्व देवी" का नाम दिया है१। यदि मीराँ जैसी विख्यात भक्तकवि उनकी रानी होती, तो उनका उल्लेख कुम्भ के अनेक ग्रन्थो मे से किसी न किसी मे अवश्य होता।

मीराँ को कुम्भ की रानी मानने से जीवगुसाईं व अकबर से भेट२ तुलसी को पत्रिका भेजना३ तथा श्रीआचार्यजी की सेविका न होना४ आदि भक्त-ग्रन्थो के उल्लेखो को असत्य मानना पड़ता है; क्योंकि इन सबका जन्म कुम्भ की मृत्यु के बहुत दिन बाद हुआ था।

शिवसिंहजी तथा ग्रियर्सन साहब को भी टाड साहब की भाँति जन्म-काल मे भ्रम हुआ है५। बाबू कार्तिकप्रसाद ने तो अनुमान की बस पराकाष्ठा ही कर दी है। आपने मीराँ को कुम्भ की रानी लिखने के साथ-साथ जयमल की पुत्री बनाकर अकबर को

---

१. उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृ० ३२९

२ प्रियादास की टीका (भक्तमाल)

३. मूल गोसांई चरित (ना० प्र० प० भाग ७ सं० १९८३ पृ० ३७५ ३९७)

४ चौरासी वैष्णवन की वार्ता पृ० ३४२-६६८ (कृष्णदास अधिकारी की वार्ता)

५ शिवसिंहसरोज पृ० ४७५

दर्शन भी करा दिये ।[१] वह कदाचित् भूल गये कि जयमल का जन्म संवत् १५६४ मे हुआ था और अकबर का जन्म संवत् १५९९ (सन् १५४२) मे तथा वे संवत् १५१२ मे गद्दी पर बैठे । कुम्भ की मृत्यु संवत् १५२५ मे हुई । तब क्या पिता के जन्म के पूर्व ही विवाह होगया ? त्रिवेदीजी ने भी कुछ ऐसी ही ऐतिहासिक भूलें की है ।[२]

अस्तु, टाड साहब तथा उनके अनुयायियों का मत सर्वथा भ्रांतिमूलक है । मीराँ का कुम्भ की रानी होना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता ।

दूसरा मत राजस्थान के आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानो का है । इनकी सम्मति मे मीराँ रावदूदाजी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिहजी की इकलौती पुत्री तथा राना साँगा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराज की पत्नी थीं, और उनका जन्म संवत् १५५५ के आसपास हुआ था ।[३] इस मत के अनुसार मीराँ का जन्म-काल ८०-८५ वर्ष आगे बढ़ जाता है । इसके मूल आधार का उल्लेख न तो शारदाजी ने किया है और न ओझाजी ने । हाँ, "चतुरकुलचरित" जिसमे राठौड़ो का हाल है तथा कविराजा श्यामलदास कृत "वीर-विनोद" का नाम

---

१. कार्तिकप्रसाद "मीराबाई का जीवन-चरित" पृ० १,३,१२

२. सती-मण्डल भाग १ पृ० १४०-१४८

३. उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृष्ठ ३५८-६० मु० देवीप्रसाद कृत मीराँबाई का जीवनचरित ।

अवश्य दे दिया है।१ सम्भवत इन उल्लेखो का मूल आधार राज्य के लेखो, वंशावलियो, जन्म-पत्र तथा जनश्रुति पर होगा। आधार चाहे कुछ हो, कम से कम उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री से सहायता अवश्य ली गयी है, और अनुमान भी युक्तिसगत ही है। हमारी समझ मे इस मत के मानने मे कोई विशेष कठिनाई नही दिखाई पड़ती। हाँ, सवत् १५५५ की अपेक्षा सवत् १५६० के आसपास जन्म होना अधिक युक्ति-संगत जान पडता है।

रत्नसिंह के ज्येष्ठ भ्राता वीरमदेव का जन्म संवत् १५३४ मे दिया हुआ है।२ और जब रत्नसिंहजी चतुर्थ पुत्र थे ३ तो उनका जन्म संवत् १५३९-४० के लगभग हुआ होगा। यदि मीराँ के जन्म के समय उनके पिता की आयु २० वर्ष की मान ली जाय, तो संवत् १५६० के आसपास उनका जन्मकाल अपने आप निकल आता है। मीराँ के पति भोजराज की आयु पर विचार करने से भी हम इसी निश्चय पर पहुँचते हैं। भोज के पिता महाराना सांगा का जन्म संवत् १५३९ में हुआ था।४ यदि भोजराज के जन्म के समय उनके पिता की आयु २० वर्ष की होगी, तो भोजराज का जन्म

---

१. महाराना सांगा (शारदा) पृ० ६५-६६ फुटनोट

२. ना० प्र० पत्रिका भाग १ पृ० १४४,सरस्वती (जनवरी १६१५)

३. सुधा (फाल्गुन सं० १६८४)

४. महाराना सांगा (शारदा) ना० प्र० प० भाग १ पृ० ११४

संवत् १५५९ के लगभग होना चाहिए।[1] और यदि वह अपनी पत्नी से एक-दो वर्ष भी बड़े होंगे तो मीराँ का जन्म संवत् १५६० के लगभग निकल आता है।

प्रसिद्ध है कि मीराँबाई ने अपनी सास की आज्ञा का उल्लंघन किया।[2] कदाचित् इसी कारण इन लोगो का यह अनुमान है कि विवाह के समय (सं० १५७३) मीराँ की अवस्था १७-१८ वर्ष की रही होगी,[3] अन्यथा ऐसा होना यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। यह अनुमान कुछ असंगत ठहरता है। यदि भोजराज मीराँ से एक-दो वर्ष बड़े होंगे तो (इस अनुमान के अनुसार) उनका जन्म सवत् १५५३ के आसपास होना चाहिए, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि महाराना सांगा की १४ वर्ष (१५५३-१५३९) की अवस्था मे ही भोजराज का जन्म हुआ होगा। नैणसी की ख्यात के अनुसार तो भोजराज ज्येष्ठ पुत्र भी न थे,[4] फलतः १४ वर्ष के और भी पहले राना सांगा के एक-दो सन्तान हो चुकी होगी, जो व्यवहार-विरुद्ध प्रतीत होता है।

---

१. नोट—नैणसी की ख्यात के अनुसार तो भोजराज ज्येष्ठ पुत्र भी न थे। फलतः वे २० वर्ष से कम पिता की आयु मे जन्म कैसे ले सकते थे?

२. शब्दावली शब्द १ पृ० ३७

३. नोट—कुछ लोग राजपूत कन्याओ का अधिक आयु में विवाह होना लोक व्यवहारान्तर्गत मानते है।

४. पृ० ४७

मीराँ का जन्म सवत् १५६० के आसपास मान लेने पर केवल एक आपत्ति होती है । इन लोगो के अनुमान के अनुसार मीराँ की आयु विवाह के समय १७-१८ वर्ष की तथा पुत्र जन्म होने पर सांगा की केवल १४ वर्ष की निकलती है और सवन् १५६० मान लेने पर मीराँ की आयु १३ वर्ष तथा भोज के पिता की १९-२० वर्ष । हमारे विचार मे सवत् १५६० ही के आसपास मीराँ का जन्म हुआ होगा; क्योकि १३ वर्ष की अवस्था मे विवाह होना इतना आश्चर्यजनक नही है, जितना कि प्रथम सन्तान के उत्पन्न होने पर पिता को आयु का १४ वर्ष होना, प्रत्युत कई लेखको ने मीराँ का विवाह ११ वर्ष ही मे होना लिखा है ।[१] कदाचित इसी लिए मेकालिफ ने इनका जन्म संवत् १५६१ (1504 A C) के लगभग माना है ।[२] मिश्रबन्धुओ तथा ग्रीवज ने भूल से विवाह-तिथि (स० १५७३) को जन्म-तिथि माना है ।[३] भोजराज सवत् १५८० के लगभग ससार छोड चुके थे,[४] तो विवाह किस आयु मे और कब हुआ होगा ? प्रथम तो यह इतिहास-विरुद्ध है, दूसरे

---

१. " Mira Bai, her life and songs by "Anath Basu, Indian Antiquary 1903.

२. Indian Antiquary 1903 "The Legends of Mira bai" by M. Macouliffe

३. "विनोद" पृ० ३६२ ६६; ग्रीवज् पृ० ४६ ।

४ उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृष्ठ ४६ ।

जब इनके छोटे भाई (चाचा के लड़के) जयमल का जन्म संवत् १५६४ में हुआ था,[1] तो इनका जयमल से पहले का होना चाहिये, न कि बाद को।

मीराँ को भोज की पत्नी मान लेने से उनके सास, ससुर, देवर, ननद आदि के उल्लेखों तथा अन्य बातों का समाधान हो जाता है।

अस्तु, हम निःसंकोच संवत् १५५५—१५६१ के बीच में मीराँ का जन्म-काल मान सकते हैं, और सम्भवतः सं० १५६० के लगभग ही उनका जन्म हुआ होगा।

मीराँ के जन्म-स्थान के विषय में विशेष मतभेद नहीं है। ओझाजी प्रभृति इनका जन्म-स्थान कुड़की या चौकड़ी मानते हैं।

जन्म-स्थान

इनके पिता रत्नसिंह को कुड़की बाजोली प्रभृति १२ गाँव, निर्वाह के लिए, मेड़ता राज्य की ओर से, मिले थे।[2] सम्भवतः इनका जन्म पिता की जागीर-प्राप्ति के बाद ही हुआ होगा। प्रियादास ने इनकी जन्म-भूमि 'मेरता' लिखी है, और यह स्वयं भी उसे अपना पीहर मानती तथा श्वसुरगृह में मेड़तणीजी कहलाती थीं।[3] इसका

---

१. ना० प्र० पत्रिका भाग १ पृ० ११४

२. उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृ० ३२९, देवीप्रसाद कृत "मीराबाई का जीवनचरित"।

३ भक्तमाल (प्रियादास की टीका); शब्दावली पृ० ३७ श० १२, ४९ श० १८, पृ० २६ श० २०

कारण माता के बाल्य-काल ही मे देहान्त होजाने पर इनका अपने दादा के यहाँ, मेड़ते मे, अधिक काल तक रहना जान पड़ता है। मेड़ते का प्राचीन नाम मान्धातृपुर था। इसके सस्थापक मान्धाता प्रमार थे। सं० १५१८ मे मीराँबाई के पितामह रावदूदाजी ने इसको पुनर्जीवन दिया।[१] मीराँ का लालन-पालन करके मेडता सदा के लिए अमर होगया। मेड़ते से अजमेर की ओर २० कोस का प्रदेश आज भी उनके नाम से "मीराबाई का देश" कहलाता है[२]। कुड़की भी जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ते के ठिकाने (इलाका) मे ही है, अत मेडतणीजी का जन्मस्थान या कम से कम पितृ-स्थान मेड़ता मानने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिए। त्रिवेदीजी ने इनका जन्म-स्थान नेरेटा लिखा है[३]। पता नहीं, पडितजी को यह नाम कहाँ से मिला। क्या यह प्रेस की कृपा है, या मेड़ते का कोई विकृत स्वरूप है ?

इनके पिता रत्नसिहजी का परिचय दिया ही जाचुका है। इनकी माता के विषय मे इतिहास से इतना ही पता चलता है कि

---

१. महाराना कुम्भ (शारदा) मारवाड का इतिहास (जगदीशसिंह गहलोत)

नोट—महाराना सांगा (शारदा) मे पृ० ९५-९६ फुटनोट मे सं० १५२४ के बाद मेड़ते के राजा दूदाजी हुए।

२. काव्य-दोहन भाग ७, उदयपुर का इतिहास (ओझा)

३. सतीमण्डल भाग १ पृ० १४०-४८

वे इन्हें बाल्यकाल ही मे छोड़ परलोक सिधारीं।[१]

माता-पिता

यह भी प्रसिद्ध है कि गिरिधर के इष्ट का प्रकट कारण इनकी माता ही थी। एक दिन इन्होंने पड़ोस में एक कन्या का विवाह होते देखकर माता से पूछा—"माँ, मेरा दूल्हा कौन है ?" माता ने हँसकर गिरिधर की ओर उङ्गली उठा दी[२]। जो कुछ हो, इतना तो निश्चित है कि मातृवियोग के पश्चात् इनके दादा दूदाजी ने इन्हें अपने पास मेड़ते बुला लिया, और वहीं इनका लालन-पालन हुआ।[३]

राव दूदाजी परम वैष्णव तथा चतुर्भुज के अनन्य भक्त थे[४]। उनके पास रहने से मीरॉ की बचपन ही से भगवद्भक्ति मे विशेष रुचि उत्पन्न होगई। कहते हैं, एक बार एक साधू उनके पिता के घर ठहरा था। उसके पास गिरिधरजी की एक सुन्दर मूर्ति थी, जिसको बाल-हठ कर मीरॉ ने प्राप्त किया था।[५] यह मूर्ति उन्हें बड़ी प्यारी होगई थी।

बाल्यकाल

---

१. उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृ० ३५८-६०; देवी प्र० "मीराँबाई"

२. M. Macauliffe, "The Legends of Mirabai"

३ शब्दावली (वे० प्रे०) भूमिका

४. देवीप्रसाद "मीरॉबाई का जीवन चरित"

५. "The Legends of Mirabai"; शब्दावली (जीवन-चरित)

जहाँ अन्य बालिकाएँ अपनी गुडियों का त्योहार मनाती, मीरा अपने गिरिधरलाल के उत्सव मनाया करती। बचपन का यह खिलौना ही आगे चलकर उनकी प्रेमभक्ति का स्वरूप बना। यही गिरिधर की मूर्ति "मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर" में परिवर्तित होगई।

दूदाजी की मृत्यु के एक वर्ष बाद संवत् १५७३ में वीरमजी ने शिशोदिया कुलावतंश हिन्दू-सूर्य महाराना सांगा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराज से उनका विवाह कर दिया[१]।

विवाह

[अनाथनाथ बसु ने विवाह-काल संवत् १५६७ के लगभग दिया है, और मीरा की आयु ११ वर्ष की। इस अनुमान को सत्य मानने में भोज की आयु में गड़बडी पड़ती है, क्योंकि इस समय भोज के पिता राना सांगा की आयु केवल २८ वर्ष की थी[२]।] बिदा के समय सभी लड़कियाँ अपनी प्यारी चीजें अपने साथ लेजाना चाहती हैं, मीराँ भी अपने गिरिधरलाल को साथ लेती गईं। चित्तौड़ पहुँच अपने स्वामी की सेवा में लगी, फिर भी उनका मन भगवद्भक्ति से तनिक भी विचलित न हुआ।

---

१. उदयपुर का इतिहास पृ० ३४८-३६०, महाराना साँगा नोट पृ० ६४-६६

२. "Mirabai, her life and Songs" by Anathnath Basu of Viswabharati

प्रियादास ने लिखा है कि श्वसुर-गृह मे देवी-पूजन पर सास से अनबन हो गई और इन्हे एकान्तवास दिया गया। मीराँ के एक-दो पद भी इस आशय के हैं—

श्वसुर-गृह

"नहिं हम पूजां गोरज्या जी, नहि पूजां अनदेव।
परम सनेही गोबिन्दो, थे काईं जानो म्हारो भेव ॥"[1]

ऐसी ही दन्त-कथा तुलसीदासजी के बारे मे भी प्रचलित है। वह युग साम्प्रदायिक झगडो का था। जिस युग मे श्रीआचार्य जी की सेविका न होने के कारण अधिकारीजी ने मीराँ की भेट हाथ तक से न छुई, उसमे ऐसा हो जाना कोई आश्चर्य की बात नही। दूसरे, बचपन ही से वे गिरिधर को अपना इष्ट मान चुकी थी, फिर भला अन्य देवता को सिर कैसे झुकाती? स्वमन्तव्य के लिए बड़ो का कहना मानना चरित्रवानो के लिए पाप नही। इतना होते हुए भी ऐसी कथाएँ केवल दन्तमूलक लगती हैं। जोधपुर और चित्तौड़ के राजवंशो मे बराबर वैवाहिक सम्बन्ध होता चला आया है। दोनो एक-दूसरे के रीति-व्यवहारो से परिचित थे। यद्यपि चित्तौड़ के राजा विशेषतया शिव-भक्त थे, पर उन्ही के वंश के राना कुम्भ ने विष्णुमन्दिरो की स्थापना की थी[2]। देवी-पूजन की इस कथा के गढ़ लेने से भक्तों

१. शब्दावली पृ० ३७ शब्द ७।

२. देवीप्रसाद. "मीराबाई का जीवन-चरित";काव्य दोहन भाग ७

का क्या अभिप्राय था, यह समझ मे नही आता। मीराँ की तो आयु भी इतनी न थी कि बहू आते ही सास-ससुर की आज्ञा उल्लंघन करने का साहस करती। केवल इतना ही नही, 'रूप कलाजी' ने तो यहाँ तक लिखा है कि मीराँ के सास-ससुर ने उनसे अप्रसन्न होकर भोजराज का दूसरा विवाह भी कर दिया।१ यद्यपि इस आशय के एक-दो पद भी मिलते है कि इनकी पति से कुछ अनबन रहती थी,२ परन्तु इनके चरित्र पर पूर्णरूप से विचार करने पर इन पदो को कल्पित ही मानना पड़ेगा। यह वृथा कलंक है कि मीराँ का पति पर प्रेम न था। पति-सेवा के कारण देव-सेवा और देव-सेवा के कारण पति-सेवा मे बाधा पड़ने का कोई कारण नही जान पड़ता३। ये सब झगडे तो तब शुरु हुए, जब विधवा होने पर इनके यहाँ साधु-सतों की भीड़ लगी रहने लगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि मीराँ के कुछ ग्रह ही अशुभ आ पडे थे। पतिग्रह मे आने पर ही कुछ दिनो पश्चात् सास-ससुर से अनबन रही। खैर, यह भी सहा, पर अभी और बहुत देखना था। कुछ वर्ष भी पति-सेवा न कर पाई थी कि कठोर वैधव्य का प्रहार सहना पड़ा। इसी के दो वर्ष बाद उनपर

१. "श्री मीराँबाई का जीवनचरित्र व प्रीति"

२. शब्दावली

३. सती-मण्डल भाग १

दूसरा वज्र-प्रहार हुआ। संवत् १५८४ मे खानवे के रणक्षेत्र मे बाबर के विरूद्ध युद्ध करते हुए उनके पिता रत्नसिहजी मारे गये, और कुछ ही महीनों बाद राणा सांगा भी संसार छोड़ गये[१]। इन सब अपशकुनो का कारण मीराँ ही ठहराई गई। मीराँ की दशा सोचते ही हिन्दू विधवा का दृश्य सामने आ जाता है। कोई सन्तान थी नही कि जिसे देख मन बहलाती[२]। पति के अभाव मे स्त्री के लिए परमेश्वर ही एकमात्र शांति का साधन है। सती मीराँ ने सासारिक मोह मे न पड़कर इसी मार्ग का अवलम्बन करना निश्चित किया। बचपन ही से मीराँ के सस्कार भक्ति-वृक्ष के उद्भावक, पोषक तथा वर्द्धक थे। प्राचीन बाल-सस्कार के कारण ये दुःख भुलाकर चित्तवृत्तियाँ गिरिधर मे लगा दी। इस पवित्र प्रेम पर पक्का रङ्ग चढ़ाने के लिए ही उन्होने सत्सङ्ग किया—

"साधूजन नो सङ्ग जो करिये, चढ़ते चौगणो रङ्ग रे।
साकट जन नो सग न करिये, पड़े भजन मे भग रे।"[३]

कहते है कि इसी समय उन्होने रैदासजी से गुरु-दीक्षा भी

---

१. "उदयपुर का इतिहास" (ओझा) पृ० ३४८-३६०; तुज़ुक बाबरी पृ० ५७३, देवीप्रसाद

२. काव्य-दोहन भाग ७

३. शब्दावली पृ० ६३ श० २२

ली । तीन-चार पदों मे रैदास का नाम अवश्य आया,[१] पर वे कल्पित जान पड़ते हैं । भगतो ने तो यहाँ तक गढ़ लिया कि—

"झाँझ पखावज बेणु बाजियो, झालरनो झनकार ।
काशी नगर का चौक मां, मनें गुरु मड़्या रोहिदास ।।"[२]

रैदास मीराँ के जन्म के पूर्व ही ससार छोड़ चुके थे ।[३] वे कैसे मीराँ से काशी मे मिल सकते थे ! मीराँ के भी तो काशी जाने का कोई उल्लेख नही है । रैदास रामानन्दी थे, मीरा कृष्ण-भक्त । जब उन्होने वल्लभाचार्यजी की सेविका बनने से इनकार कर दिया[४], तो समझ मे नही आता, रैदास को क्यो अपना गुरू चुनती ! उनके गुरू ही नही वरन् सर्वस्व गिरिधरजी थे । जो मीराँ अन्य देवता तक को शिर झुकाना नही चाहती थीं, वह ऐसा कैसे कर सकती थी ? भक्तमाल (टीका) मे रैदास चित्तौर की रानी झाली के गुरू लिखे गये है । झाली रानी रत्नकुँवर राना सांगा की माँ[५] और रैदास की समकालीन थीं । गोकुलनाथजी

---

१. शब्दावली पृ० २० श० ४१, पृ० २५ श० ५७, पृ० ३६ श० १४; भा० पृ० ३७ श० १

२. काव्य दोहन भाग ७

३. Encyclopœdia of Religion and Ethics, सन्तबानी-संग्रह भा० १,; Keay "Hindi Litrature."

४. चौरासीवार्ता पृ० ३४२-३६८

५. ना० प्र० प० (कार्तिक सं० १९८१); L Sita Ram's Selection's (Saints Raidas).

ने जयमल की किसी 'बेन' के गुरु का नाम हरिदास लिखा है[1]। गुजरात मे रविदासी सम्प्रदाय का ज़ोर था ही, इन्ही मे से किसी के आधार पर, भ्रम से, ये पद रैदास का माहात्म्य दिखाने के लिए उनके किसी शिष्य ने जोड़ दिये होगे।

इस प्रकार मीराँ अपने युवावस्था के मनोवेगो का दमनकर साधुसन्तों मे भगवत्कीर्तन कर अपने दिन काटने लगी। उसके देवरो को यह अच्छा न लगा। कुल के लोग बुरा-भला कहने लगे तथा ईडरगढ़ आदि से उलहने भी आने लगे [2]। रानाजी ने मीराँ की यह चाल चित्तौड़ की मर्य्यादा के प्रतिकूल समझी। कहते है, पहले तो उन्होने चम्पा चमेली नाम की दो सखियाँ नियुक्त की कि मीराँ को समझाये, फिर स्वय उनकी ननद ऊदाबाई पर ही इसका भार रक्खा[3]। ऊदाबाई का नाम राणा साँगा की पुत्रियो मे नही दिया गया है[4]। सम्भव है, वह पृथ्वीराज आदि साँगा के किसी भाई की पुत्री हो। मीराँ विरक्त हो चुकी थी। जिसने गिरिधर के प्रेम की चूनर ओढ़ ली, उसे राज-सुख से क्या प्रयोजन ? ननदजी से कह दिया कि बाई जी—

---

१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता न० १५ पृ० ६४-६६

२ शब्दावली पृ० ३७ श० २

३. काव्य-दोहन भाग ७, शब्दावली (जीवनचरित) तथा पृ० ३७-४० (ऊदाबाई)

४. उदयपुर का इतिहास (ओझा)

"राज पाट भोगो तुम्हीं, हमे न तासू काम ।"[१]

इधर राना रत्नसिंह के बाद विक्रमादित्य राना हुए । विक्रमादित्य की दुष्टता इतिहास से छिपी नहीं है, जिसके फलस्वरूप ही उसे राज और जीवन दोनो मे हाथ धोना पड़ा । उसने मीरॉ को हर प्रकार के कष्ट पहुँचाने शुरू किये,[२] कंस की भाँति विषधर नाग और हलाहल तक का प्रयोग किया । भक्त मीरॉ ने इन कष्टो को अपनी भक्ति की कसौटी समझा । उसकी भक्ति, तपाये हुए सोने की भॉति, कुन्दन हो, झलकने लगी । आत्म-बल की विजय हुई । सच्चे प्रेम मे कौन सी शक्ति नहीं होती ! विष का प्रयोग निष्फल हुआ । विषधर नाग भी चन्दनहार होगया[३], इसमे आश्चर्य ही क्या ?

कहते हैं कि विष का प्याला बीजाबरगी (विजयवर्गीय) जाति का वैश्य-मन्त्री ले गया था, जिसको यह शाप है कि धन और सन्तान दो मे से एक उसके न होगा । इस विषय पर यह कहावत भी है कि—

'बीजाबरगी बानियो, दूजो गूजर गौड़ ।
तीजो मिले जो दाहमो, करे टापरो चौड़ ।।"[४]

परन्तु मीराबाई ने स्वयं दयाराम पण्डे के हाथ से विष पाने का

---

१. शब्दावली पृ० ४२ श० ६
२. उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृ० ३६०
३. शब्दावली पृ० ६५ श० २६
४. देवीप्रसाद : "मीराबाई का जीवन-चरित'

उल्लेख किया है।१ कुछ लोग कहते हैं कि इसी विष से उन्होंने प्राण-त्याग किये। पर यह इतिहास विरुद्ध है।

एक दिन उन्होंने राणा से पूछा—"आप मुझ पर क्यों रिसाये हो? मैंने तो कुछ भी बुरा नहीं किया। जिस मालिक ने तुम्हें-हमें, दोनों को, देह दी है, उसी का गुण मैंने गाया है। मेरी सृष्टि ब्रह्माण्ड के साथ हुई थी, केवल इस जन्म के नाते मैं मेड़तियों के घर उत्पन्न हुई हूँ।२ निश्चय जानो कि—

"थारी मारी न मरूँ, म्हारो राखणहारो ओर"३

इस पर भी राणा की आँखें न खुलीं। उसने मीराँ को तलवार से मारने की सोची।४ जब उन्होंने जान लिया कि इसकी बुद्धि ठिकाने नहीं है तो कहा कि—

"मारयाँ पराछित लाग सी, माँने दीजो पीहर मेल" ॥५

उधर उनके काका वीरमजी ने उनके कष्टों का समाचार सुन उनको बुलाने के लिए आदमी भेजे।६ राणा यह चाहता ही था कि वे उसकी आँखों के सामने से टल जाँय, तुरन्त पीहर के आदमियों के साथ तीर्थ-यात्रा की तैयारी करा दी।

---

१. शब्दावली पृ० ६७ श० ३२

२ शब्दावली पृ० ६७ श० ३२

३ शब्दावली पृ० ६० श० १८

४. शब्दावली पृ० श०

५ शब्दावली पृ० ६० श० १८

६ उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृ० ३६०

भक्त मीराँ मथुरा, वृन्दाबन, पुष्कर[1] आदि तीर्थों मे होती हुई मेड़ते पहुँची। वृन्दाबन मे उन्होंने जीवगुसाईं[2] के दर्शन करने चाहे। गुसाईंजीने कहला भेजा कि वे स्त्रियो से नही मिलते। इसके उत्तर में मीराँ ने कहलाया कि वृन्दाबन मे मैं सबको सखीरूप जानती थी, पुरुष केवल गिरिधरलाल को सुना था, पर आज मालूम हुआ कि उनके और भी पट्टीदार है।

तीर्थ-यात्रा

प्रेम-रस मे भीगे इन वचनों को सुनकर गुसाईंजी अति लज्जित हुए और नङ्गे पैर बाहर आकर मीराँ को बड़े आदरभाव से अपने स्थान में लेगये। भागवत का यह ज्ञान, कि—

"वासुदेव. पुमानेक. स्त्रीमयमितरज्जगत्"—

मीराँ के माधुर्य भाव का परिचायक है, जो उनके प्रत्येक पद मे देखा जा सकता है।

मेड़ते मे भी मीराँ शान्त न रह सकीं। जब आपत्तियाँ आती हैं, तो चारों ओर से आती हैं। संवत् १५९६ से मेड़ते मे भी उपद्रव शुरू होगये। वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया गया और अन्त मे वे भी सं० १६०० मे परलोक सिधारे।[3] यही तक मीरा का

१. काव्यदोहन भाग ७; शब्दावली पृ० ६० श० १८; पृ० ४१ श० ९, पृ० ६१ श० १६

२. प्रियादास की टीका, The Legend of Mirabai by Macauliffe (Indian Antiquery).

३. "उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृ० ३६०; मीराँबाई का जीवनचरित (दे० प्र०) काव्य-दोहन भाग ७

ऐतिहासिक परिचय हमे मिलता है । सम्भवतः यहाँ से वे फिर वृन्दावन गई और वहाँ कुछ दिनों निवास किया, क्योंकि उनके पदों से उनका वृन्दावन मे काफी समय तक रहना सूचित होता है। पर जब ब्रजभूमि मे मुग़लपठानो के रणवाद्य बजने लगे[१] तो सम्भवत· संवत् १६१२-१३ के आप-पास पुनः चित्तौर की ओर रवाना हुईं । मेड़ते पर आपत्ति थी ही, जाती कहाँ ? परन्तु चित्तौड़ मे भी उनके लिए स्थान न था। राणाउदयसिह के समय मे चित्तौड़ में एक प्रकार से बराबर गड़बड़ ही मची रही। सम्भवतः इसी समय उन्होंने सुखपाल के हाथ तुलसीदासजी को पत्रिका भेजी होगी, जो उन्हे संवत् १६१६ के बाद मिल सकी थी।[२] उस समय रेल जहाज तो थे नही कि कोसों की यात्रा मिनटों मे होजाती । वहां तो "नौ दिन चलै अढ़ाई कोस" वाली मसल थी।

इसके बाद मीराँ द्वारावती गईं,[३] और (उपर्युक्त अनुमान के अनुसार (सम्भवतः संवत् १६२०-३० के[४] बीच मे वहीं परमधाम को प्राप्त हुईं। प्रियादास ने लिखा है कि चित्तौड़ से

१. See Smith's Indian History Mughal-Patham periob.

२. ना० प्र० पत्रिका भाग ७ सं० १९८३ पृ० ३७५ व पृ० ३९३

३. प्रियादास की टोका; उदयपुर का इतिहास पृ० ३६० ।

४. कविवचनसुधा, शिवनन्दनसहाय कृत "गोस्वामीजी का जीवन-चरित" पृ० ११०-६ शब्दावली (जीवनचरित)

उनको बुलाने के लिए आये हुए ब्राह्मणों के आग्रह करने पर उन्होंने कहा—"रणछोरजी से मिल लूँ"। इतना कह मन्दिर के अन्दर गईं और मूर्ति मे लीन हो गईं।

इनके देहान्त के समय का पता ठीक नहीं चलता। मुंशी देवीप्रसादजी ने भूरिदान भाट के कथन के आधार पर लिखा है कि इनका अन्तकाल संवत् १६०३ मे हुआ।[१] १६००-१६०१ तक का पक्का ऐतिहासिक प्रमाण तो मुशीजी के पास है। यथासम्भव इस काल तक ये मेड़ते में ही रही होगी। अब यदि ऊपर लिखी गई बातें सत्य मानें, तो केवल एक-दो वर्षों मे इतनी घटनाओंका होना यदि असम्भव नही, तो असङ्गत अवश्य प्रतीत होता है। तथैव उनके पद ही इस बात के पक्के प्रमाण है कि उन्होंने काफी समय रणछोरजी के सामने भक्तिकीर्तन मे बिताया। गुजरात प्रदेश मे मीरां के पद उसी प्रकार प्रचलित हैं, जिस प्रकार उत्तर भारत मे रामायण की चौपाइयाँ। बड़े-बड़े प्रासाद से लेकर छोटी-मोटी कुटियों तक मे, मीरां के गीत बड़े चाव से गाये जाते है। यदि मीराँ गुजरात में केवल एक-दो वर्ष ही रही होती, तो वह इतनी ख्याति प्राप्त कर लेती, यह असम्भव है। क्या एक हो दो वर्षमें उनका गुजरात पर और गुजरातियो का इतना हक होगया कि आज मीराँ को गुजराती भाई अप-

मृत्यु-काल

१. "मीराबाई का जीवन-चरित" (दे० प्र०); उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृ० ३६०

नाने के लिए इतना झगड़े ? समझ मे नहीं आता कि राजस्थान के इतिहासकारों को सवत् १६०३ क्यो ठीक जान पड़ा !

बाबू राधाकृष्णदास ने भक्तनामावली की टिप्पणी में लिखा है कि आगरे मे प्रतिष्ठित मूर्ति का सवत् १६११ का लेख शायद मीराँबाई का है। बाबा बेनीमाधवदास ने उनका तुलसीदासजी को संवत् १६१६ के लगभग पत्रिका भेजने का उल्लेख किया है और लेजानेवाले सुखपाल का नाम भी दिया है[1]। प्रियादास ने तो भक्तमाल की टीका मे तुलसी के पत्र-व्यवहार के अतिरिक्त तानसेन-सहित अकबर का उनके दर्शनार्थ आना भी लिखा है।[2] इन उल्लेखो को सत्य मानने मे कोई ऐतिहासिक आपत्ति नही दिखाई देती। गुसाईं तुलसीदासजी का जन्म सवत् १५५४ मे हुआ था[3] संवत् १६१६ मे उनकी आयु लगभग ६२ वर्ष की थी। न मालूम क्यों बाबू शिवनन्दनसहाय को इतनी आयु होने पर भी उनका ख्याति होने मे सन्देह हुआ[4]। यदि उनकी इतनी ख्याति न होती कि मीराँ पत्र भेजकर उनकी सम्मति ले, तो शूरदासजी क्यों उनके पास भेजे जाते कि जाकर उन्हें अपना सूरसागर दिखाये ![5]

---

१ ना० प्र० पत्रिका भाग ७ सं० १६८३ पृ० ३७५ व ३९७.

२ प्रियादास की टीका "मानस-मयङ्क"; "तुलसी-चरित"

३. ना० प्र० प० भाग ७ सं० १९८३ पृ० ३७५ व ३९७

४ शिवनन्दनसहाय "गोस्वामीजी का जीवनचरित" पृ० ११०-११६

५ ना० प्र० पत्रिका भाग ७ सं० १९८३

हम मानते हैं कि उनकी सुख्याति 'मानस'-रचना के पीछे ही हुई होगी, परन्तु क्या कवि तुलसीका संवत् १६३१ के पूर्व भक्त तुलसी होना भी असम्भव है? फिर 'मानस' के पूर्व भी तो वे रचना कर चुके थे। हाँ यदि तुलसी का जन्मकाल संवत् १५८९ स्वयसिद्ध मान ले १, और साथ ही संवत् १६०३ में मीराँ का मृत्युकाल मानें, तब तो अवश्यही १५ वर्ष की आयुमें तुलसी की ख्याति नही होसकती। परन्तु "मूलगुसाईं-चरित" मे तुलसी का जन्मकाल संवत् १५५४ निश्चित है २। रही अकबर से भेट, सो वह तभी सम्भव हो सकती है, जब मीराँ का मृत्युकाल संवत् १६२९ के बाद माने। संवत् १६२९ (1572 A D) में अकबर ने गुजरात पर अपना अधिकार किया था २। मीराँ का नाम उस समय अवश्य ही गुजरात के कोने-कोने मे सुनाई देता होगा। अकबर की प्रवृत्ति धर्मचर्चा की ओर थी हीं; उसने अनन्य भक्त

---

१. रामगुलाम द्विवेदी; ग्रियर्सन

२. नोट—सं० १५५४ मे जन्म मानने से तुलसीदासजी की आयु मृत्यु के समय (सं० १६८०) १२६ वर्ष की होती है। कुछ विद्वानो की सम्मति मे इतनी आयु तक जीवित रहना असङ्गत जान पड़ता है। विशेषतया इतनी आयु में ग्रन्थ-रचना करना तो असम्भव-सा है। पर क्या आज भी किसी-किसी को इतनी आयु प्राप्त नही हो जाती? ग्रन्थ-रचना के उत्तर मे इतना ही कहना पर्य्याप्त होगा कि उन्होने रचना-आरम्भ भी तो देर में किया था।

३. Oxford History or India by Vimcent Smith p. 352.

मीरां के दर्शन की अवश्य इच्छा की होगी। अतएव मीराँ का मृत्युकाल इस अनुमान से संवत् १६३० के लगभग सिद्ध होता है। इसलिए हमको भारतेन्दुजी का यह मत कि मीरां ने स० १६२०-३० के बीच शरीर त्याग किया, ठीक जान पड़ता है, जैसा उन्होंने उद्-यपुर दर्बार की सम्मति से निर्णय किया था।[१] अनाथनाथ बसु मीराँ की सारूप्यमुक्ति का समय सवत् १६२७ के लगभग लिखते है।[२] रूपकलाजी के पिता तपस्वीरामजी ने उनका मृत्युकाल सवत् १६४५ दिया है।[३] पता नही, इसका क्या प्रमाण उनके पास था।

संवत् १६३० के आसपास अन्तकाल मानने से मीराँ की आयु, उनकी मृत्यु के समय, ७० वर्ष के भीतर ही होती है। इतनी आयु तक जीना असम्भव नही जान पड़ता, प्रत्युत उनकी ख्याति के विचार से तो उनका अधिक अवस्था मे ही ससार-त्याग ठीक जान पड़ता है। अस्तु, यद्यपि यह निश्चित नही है कि मीराँ ने किस सवत् मे शरीर-त्याग किया, तथापि इतना मान लेना भी अनुचित न होगा कि सवत् १६०० और सवत् १६३० के बीच मे उनका देहावसान हुआ। हमारी सम्मति मे सं० १६३० के लगभग ही वे परमधाम को प्राप्त हुई होगी।

---

१. शब्दावली (जीवनचरित)

२. Visvabharati, Jan 1929 p 457-63.

३ मीराँबाई का जीवनचरित'' (रूपकला)

कविता और भक्ति

मीराँ केवल भक्त ही न थी, वे कवि भी उच्चकोटि की थी।[1] कविता का रहस्य है भावुकता, तल्लीनता एवं स्वाभाविकता। कवि बनते नही हैं, पैदा होते हैं। प्रकृति ने जिसे प्रबल भाव दिये हैं, ओज दिया है, वही कवि है। भावो से, उमंग से, प्रेम से, जब उसका हृदय भर जायगा, तब वह आप से आप कविता कह उठेगा। उपमा, अलङ्कार, पदलालित्य इत्यादि का विचार करने की उसे आवश्यकता नही है। इन विचारों से तो कृत्रिमता आ जायगी। जो सच्चा कवि है, उसकी रचना आप-से-आप इन गुणों से विभूषित होगी। जो कवि नही है, उसकी रचना इन गुणो से यत्किञ्चित् विभूषित रहने पर भी कविता न होगी। स्वाभाविक कविता का प्रवाह स्वाभाविक होगा, कृत्रिम न होगा, अतएव सादा होगा—बनावटी क्लिष्टता से रहित होगा। जब व्याध ने क्रौञ्च पक्षियो को तीर से मारा, तब आदिकवि वाल्मीकि के दयार्द्र चित्त के भाव आप से आप एक सुन्दर सुष्ठु श्लोक के रूप मे प्रकट हुए। सच्ची कविता की उत्पत्ति का यह सर्वोत्तम दृष्टान्त है। मीराँ ने भी कविता व्यवसाय के लिए नही की थी। यह तो उसके हृदय मे व्याप्त गिरिधर-प्रेम का स्वाभाविक परिणाम था।

---

१ नोट—कुछ विद्वानो को मीराँ को उच्चकोटि का कवि मानने में आपत्ति है। 'राग गोविन्द' तथा 'राग सोरठ' को उन्हीं की रचना मानने वालों को कदाचित् यह सन्देह न होगा। एक राजकुमारी का संगीत एवं कविताप्रिय होना स्वाभाविक ही ह।

पदों और भजनो के अतिरिक्त, समय-समय पर, प्रेम आवेश की दशा मे, जो पद मीराँ के मुख से निकले, वे नीचे लिखे ग्रन्थो के रूपो मे उन्ही के रचे कहे जाते हैं १:—

१. नरसी का मायरा—"नरसी को माहेरो मगल गावे मीराँ दासी"। काव्य-दोहन मे लिखा है कि इसकी पाँचवी पंक्ति से यह विदित होता है कि मीराँ ने इसे मिथिला-सखी आदि भक्त जनों को सुनाया था।

२. गीत गोविन्द की टीका—सम्भवत: यह राना कुम्भ की बनायी टीका ही होगी और जिस प्रकार भ्रम से कुम्भ का मन्दिर "मीराबाई का मन्दिर" कहलाने लगा, उसी प्रकार उनकी टीका मे भी मीराँ का नाम जोड़ दिया गया।

३. राग गोविन्द—इसका उल्लेख प्राय: सभी आधुनिक लेखको ने किया है। गौरीशङ्करजी इसे एक काव्य-ग्रन्थ मानते हैं।

४. राग सोरठ—मिश्रबन्धु इसे एक पृथक् ग्रन्थ मानते हैं। इसके पद 'शब्दावली' मे उद्धृत किये गये हैं।

---

१. काव्य दोहन भाग ७; मिश्रबन्धु-विनोद भाग १ पृ० २६२ ६६, उदयपुर का इतिहास (ओझा); देवीप्रसाद कृत 'मीराँबाई का जीवनचरित'। 'Religious Sects of the Hindus' by Wilson p 138, शिवसिंहसरोज पृ० ४७४.

५. स्फुट पद—जोधपुर दर्बार मे इनका एक संग्रह प्रामाणिक माना जाता है।

यद्यपि मीराँबाई के पद हिन्दी व गुजराती की कई पुस्तकों[१] मे संगृहीत पाये जाते हैं। परन्तु उनमें बहुत से मेल के भी हैं, जो सन्तों, गायकों, प्रकाशकों आदि की कृपा के फलस्वरूप है। जैसे—

"नागर नन्दा रे, मुकुट पर वारी जाऊँ, नागर नन्दा।
बनस्पती में तुलसी बड़ी है, नदियन मे बड़ी गंगा।
सब देवन मे शिवजी बड़े हैं, तारन मे बड़ा चन्दा॥
सब भक्तन मे भर्थरी बड़े है, शरण राखो गोविन्दा।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागुर, चरण-कमल-चित-फन्दा॥[१]

इससे अच्छा प्रमाण मेल का और क्या हो सकता है? पहली पंक्ति मे जितनी मधुरता है, अन्य पंक्तियो मे उतनी ही नीरसता है। ये पक्तियाँ 'हरिगीतिका' गानेवालों की सी जान पड़ती हैं। मीरां की कविता तथा उनकी प्रेम-भक्ति पर विचार करने के पूर्व इस कठिनाई को पूर्ण रूप से स्मरण रखना चाहिये।

भाषा एवं प्रतिपादित विषय पर विचार करने से हमारी यह धारणा होती है कि इनके विभिन्न पद भिन्न-भिन्न समय एवं

---

१. काव्य-दोहन, मीराँबाई की शब्दावली (बे० प्रे०); मीरा-सहजो-पदसंग्रह, भजन-सागर।

२. काव्य-दोहन भाग ७

कविता-विभाग एवं रचनाकाल

स्थानो पर रचे गये। "माई" वाले पदों में मारवाड़ी का ही बाहुल्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि माता के न रहने पर यह किसी को 'माई' कहकर पुकारती रही होंगी और उन्हीं को सम्बोधित कर उन्होंने ये पद रचे। इन पदों मे राणा के दिये गये कष्टो के साथ-साथ प्रेम-भक्ति की झलक भी दिखाई पड़ती है। अतएव इनकी रचना उस समय की जान पड़ती है, जब मीरॉबाई बीरमजी के बुलाने पर कुछ दिन के लिए मेड़ते गई थीं। कारण स्पष्ट है—विवाह के पूर्व ये बालिका थी। दूसरे पद राणा तथा ऊदाबाई को सम्बोधित कर लिखे गये हैं। इनमे साधु-संगति न छोड़ने पर विष-प्रयोग आदि का उल्लेख है। "ऊदाबाई" वाले पद ननद-भाभी के वार्तालाप के रूप मे है, जिनमे मीरॉ की भाषा मारवाड़ी तथा ऊदाबाई की मेवाड़ी है। ये पद चित्तौड़ मे रचे गये प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार कृष्णलीलावाले पद वृन्दाबन मे तथा नीति-वैराग्य-सम्बन्धी पद द्वारिका मे कहे गये जान पड़ते है। रहा प्रेम-भक्ति विषयक पद, सो तो किसी विशेष समय के नहीं कहे जा सकते। और यही पद सबसे अधिक भी हैं, जो समय-समय पर प्रेम के आवेश मे मीरॉ के मुख से निकले। वास्तव मे इनकी कविता का मुख्य विषय प्रेम-भक्ति और ज्ञान-भक्ति है, नीति-वैराग्य, कृष्ण-चरित आदि उसी भक्ति के स्वाभाविक स्वरूप हैं।

मीरॉ के ज्ञान-भक्ति तथा नीति-वैराग्य सम्बन्धी पदो मे कोई

नया सिद्धान्त नही प्रतिपादित किया गया है। उन्होंने बराबर यही चेतावनी दी है कि—

"या संसार चहर की बाजी, साँझ पड़्या उड़िजासी।"

ससार नश्वर है। मनुष्य-योनि बार-बार नही मिलती। इसलिए मनुष्य को सावधान हो कर्मपथ पर अग्रसर होना चाहिये। बाहरी आडम्बर व्यर्थ हैं। उनको छोड़कर अनन्य भाव से भगवद्भक्ति करना ही उचित है, क्योंकि सच्ची भक्ति ही मुक्तिदायिनी है। केवल वही आवागमन से छुड़ा सकती है।

भक्ति का भाव कोई नया भाव नही था। भक्ति की धारा प्राचीन समय से देश मे चल रही थी। सामवेद ने भक्ति की महिमा गाई है। भगवद्गीता का उपदेश है—

"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयिते तेषु चाप्यहम्!"

श्रीमद्भागवत् ने इस प्रकार भक्ति को ज्ञान, कर्म, तप, व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ आदि पर प्रधानता दी है।

"अलं व्रतैरल तीर्थैरल योगैरल मखैः
अलं ज्ञान कथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा।"

भक्ति के इसी श्रोत ने माध्यमिक काल मे वैष्णव-धर्म का स्वरूप धारण किया। वैष्णव-सम्प्रदाय मे विषय-भेद एव गुणभेद से

भक्ति की धारा

भक्ति के अनेक प्रकार हो गये। मानवी हृदय की प्रेम-पिपासा ने प्रत्येक निराकारी मत को कुछ साकार रूप दे दिया है। फलतः १५ वीं सदी का निर्गुणी भक्ति-मार्ग १६ वी सदी मे सगुण हो गया।

निराकार परमेश्वर के स्थान पर साकार परमेश्वर की भक्ति प्रबल हुई। यदि ब्रह्म ने राम तथा कृष्ण आदि स्वरूप धारण किये तो भक्ति भी वात्सल्य, सख्य, दास आदि भावो में विभक्त हो गई।

सम्प्रदाय

श्रीयुत आनन्दशङ्कर ध्रुव ने लिखा है कि "हम मीरॉ का चैतन्य सम्प्रदाय के साधुओं के साथ समागम मानते हैं। परन्तु उनकी ज्वाला प्रकट करनेवाली मुख्य शक्तियॉ हम जयदेव और रामानन्द की मानते हैं"। मीरां किस सम्प्रदाय की थी, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। हॉ, हम इतना कह सकते है कि वे परम वैष्णव थी और श्रीमद्भागवत मे प्रतिपादित निर्विशेष कृष्णभक्ति मे लीन थी।

प्रो० विल्सन तथा मेकूनिकल प्रभृति पाश्चात्य लेखकों ने तो "मीराबाई पन्थ" तक का उल्लेख किया है। मीरॉ ने कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया। वे अनन्य भक्त थी। उनको इन झगड़ों से क्या प्रयोजन था ? वास्तव मे उनके पद इतने ललित और भक्तिरस पूर्ण हैं कि गुजरात और राजपूताने मे साधु-सन्त उन्हें कठस्थकर गाते रहते है। इन पदो मे कोई नया सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया गया है और न कोई कहता ही है कि ये पद "मीरॉबाई-पन्थ" के है। कदाचित् इस भ्रान्ति का कारण यह है कि बाल-विधवाएँ

जो इन पदों को मीराँ की तरह गाती और कृष्ण-सेवा करती हैं वे "मीराँबाई" कहलाती हैं।

कबीर, सूर, मीराँ और तुलसी अपने-अपने ढंग पर उस भक्ति-स्रोत के प्रतिनिधि थे, जो १५ वी और १६ वी सदी में तीव्र वेग से देश मे बह रहा था। भक्ति का तत्व है परमात्मा मे प्रेम, तल्लीनता और आत्म-समर्पण।

भगवान की भक्ति का रूप भक्त की निजी भावना पर निर्भर है। यदि यशोदा को पुत्र के रुप में उनका दर्शन होता है, तो अर्जुन को वे सखा के रूप में दिखाई पड़ते है। तुलसी यदि जगदीश्वर भाव से प्रेरित होकर उनकी भक्ति मे लीन होते हैं, तो शङ्कर आत्म-भाव से परिप्लावित होकर अपने को भगवान को समर्पित कर देते हैं। अनन्यहृदया मीराँ ने गोपियों की तरह कृष्ण की भक्ति पति-भाव मे ही की है। परन्तु जहाँ गोपियाँ बराबरी का दावा कर सकती हैं, मीराँ केवल दासी बनकर ही आत्मा को शान्ति पहुँचाना चाहती है। मीराँ का प्रेम आदर्श हिन्दू पतिप्राणा का प्रेम है, फिर भला वह प्रियतम से कैसे रूठ सकती!—प्राणेश्वर मे कैसे दोष लगा सकती!! उसके कृष्ण गोपियो के काले कृष्ण नही है। उसके उपास्य का रंग तो कुछ और ही है। उसे उनके बाहरी रूप से सम्बन्ध नहीं। उसका लक्ष्य आदि से अन्त तक एक है—प्रियतम से मिलन। प्रेम का यह भाव शारीरिक नहीं है, मानसिक भी नही है। यह विशुद्ध निरुपाधि प्रेम है। जहाँ मीरा ने 'बर' का प्रयोग

किया है, वहाँ वह वाच्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ में ही प्रयोग किया गया है।

प्रेम-भक्ति का विकास

मीराँ के प्रेम का आरम्भ उस गिरिधर की मूर्ति से हुआ था, जो उसने बाल-हठ-वश अपने खेलने के लिए प्राप्त की थी। देखिये—

"बालपन ते मीरां कीन्ही गिरिधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत क्यों हूँ नहि लगन लगी बरियाई॥"

वास्तव में वह खिलौना भी ऐसा ही सुन्दर था कि बालिका मीराँ के हृदय का प्यारा होगया। एक क्षण भी उससे पृथक् होना मीरां के लिए कठिन था। वह उससे हँसती, बोलती और प्राय: उसे लिये खेलते-खेलते सो जाती। उस खिलौने पर उसका प्रेम कितना सरल और सच्चा था, यह बाल-मनोविज्ञान के जाननेवाले स्वयं अनुभव कर सकते है। जब कुछ बड़ी हुई, तो अपने दादा की देखा-देखी मीराँ उस खिलौने की पूजा-वन्दना भी करने लगी। क्रमश: गिरिधर के वास्तविक अर्थ समझने पर बराबर उसके गुण श्रवण, दर्शन, अर्चन इत्यादि से मीराँ के हृदय मे कृष्ण के प्रति सच्ची प्रेमभक्ति का अंकुर बचपन ही से दृढ़ होने लगा। उसे क्या पता था कि भविष्य मे यह खिलौना ही उसके जीवन का एक मात्र सहारा होगा!

जब उसके ऊपर कठोर दु:ख का प्रहार हुआ, तो अपने दु:खित हृदय की शान्ति के लिए उसने करुणामय परमेश्वर का

सहारा लिया, क्योंकि दु:ख के समय, सिवा परमेश्वर के, कुछ दृष्टि-पथ मे नहीं आता । दु:खित हृदय भगवद्भक्ति-रस पानकर शान्ति पा लेता है । पतिदेव के अभाव मे मीराँ ने परमात्म देव की प्राप्ति के लिए उसी मे अभेद-बुद्धि करके मन लगा दिया । यह है सच्चा हिन्दू सती का आदर्श !

भक्ति भगवत्प्रेम को कहते है । भक्त विश्वास करता है कि परमात्मा मेरी भक्ति को स्वीकार करेगा । मीराँ को भी पूर्ण विश्वास था कि—'दु:ख जहाँ तहँ पीर ।" जिसने द्रोपदी की लाज रक्खी, प्रह्लाद की रक्षा की और डूबते गजराज को उबारा, वही भक्तवत्सल दीनबन्धु मुझ दुखिया का भी बेड़ा पार करेगा । अत: जिसे उसने खिलौने के रूप में प्यार किया था, उसे अब वह अपने हृदय की प्रतिमा समझ प्रेम करने लगी । उसने अपने दादा की देखादेखी खिलवाड़ मे जिसकी पूजा करना सीखा था, उसे अब वह अपना आराध्यदेव समझ, उसकी उपासना करने लगी । यही से मीराँ की सच्ची प्रेम-भक्ति का आरम्भ होता है ।

मीराँ नित्य कृष्ण-मन्दिर मे जा अपने आराध्यदेव के सम्मुख अनन्यभाव से—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई ।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई ॥"

आदि पद गाती और गाते-गाते कृष्णानन्द मे विलीन होजाती । इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उसे वृन्दावन-विहारी

श्यामसुन्दर की लावण्यमयी मूर्ति का मानसिक चित्र उसके हृदय-पटल पर अंकित हो गया—

"चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरति, उर बिच आनि अड़ी ।"

वास्तव मे जिसने एक बार उस साँवली मूर्ति को देख लिया, वह उसके तीर का शिकार हुए बिना बच नही सकता—

"आली साँवरो की दृष्टि, मानो प्रेम की कटारी है ।
लागत बेहाल भई, तन की सुध-बुध गई,
तन मन व्यापो प्रेम, मानो मतवारी है ॥"

प्रेमी अपने प्रियतम की असीम रूप-माधुरी को चकोर की भाँति देखते-देखते और अपार आनन्द-सागर मे तैरते-तैरते अपने को भूल जाता है । सच्चा प्रेम एक बार उत्पन्न होकर फिर जा नही सकता । पहले होते समय और बढ़ते समय तो उसमें सुख ही सुख दिखाई पड़ता है, पर बढ़ चुकने पर भारी दुःख का सामना करना पड़ता है । प्रेम बढ़ जाने पर और किसी भाव के लिए स्थान नहीं छोड़ता ।

"घड़ी एक नहि आवड़े दरसन तुम बिन मोय ।
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूं जीवन होय ॥

× × ×

जो मै ऐसा जानती, प्रीति किये दुख होय ।
नगर ढिढोरा फेरती रे, प्रीति करो मत कोय ॥

पन्थ निहारूँ डगर बुहारूँ, ऊबी मारग जोय।
'मीराँ' के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय ॥"

इन पंक्तियों मे प्रेम की वह झलक है कि उपास्य एक बार अपने उपासक को दर्शन देकर फिर चुपचाप बैठ जाता है और वियोग की कसौटी पर, उपासक की लगन को कसकर, उसकी गहराई तक पहुँचना चाहता है। उपासक की दशा इस समय ठीक वही होती है जो चुम्बक पत्थर दिखाने के बाद सुई की। यदि भक्त का प्रेम बनावटी होता है, तो वह एकदम इस धक्के से चूर-चूर हो जाता है, और यदि सच्चा होता है तो इस आपत्ति को झेलकर, अपने इष्ट तक ले जानेवाले मार्ग पर और भी अधिक वेग से अग्रसर होजाता है। इस दशा को पहुँचकर वह अपने प्रेमी प्रियतम की खोज मे जोगी हो उसे बन-बन ढूँढ़ता फिरता है। जिस तरह हो, जिस भेष मे हो, वह उससे साक्षात् करने के लिए लालायित होजाता है—

"जोइ जोइ भेस सो हरि मिलै, सोइ सोइ भल कीजे हो।"

वह उन्मत्त होकर नाचने लगता है। ससार ऐसे मनुष्य को पागल की उपाधि से विभूषित करता है, परन्तु प्रेमी इस विरहाग्नि मे तपकर ऐसा कुन्दन हो जाता है कि उसे किसी का ध्यान ही नही रहता। उसे केवल यही अनुभव होता है कि—

"औराँ के प्रिय परदेस बसत हैं, लिखि-लिखि भेजैं पाती।

मेरा पिय मेरे रिदे बसत है, गूँज करूँ दिन राती ॥"

प्रेम की इस सीमा पर पहुँचकर प्रेमी अपने उपास्य को सम्बोधित कर कहता है—

"अगर चँदन की चिता रचाऊँ अपने हाथ जला जा।
जलबल भई भस्म की ढेरी, अपने अंग लगा जा।
'मीरा' कहे प्रभु गिरिधर नागर जोत मे जोत मिला जा ॥"

प्रेम का परिणाम भक्ति है, भक्ति का परिणाम आत्म-निवेदन और आत्म-निवेदन का अन्तिम परिणाम अभेद। मीराँ का प्रेम भी इसी कोटि का था। इसीलिए उसने कहा है—

"हेरी मै तो प्रेम-दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय ॥ टेक ॥
सूली ऊपर सेज हमारी, किस बिधि सोना होय ॥
गगन मँडल पै सेज पिया की, किस बिध मिलना होय।
घायल की गत घायल जानै, की जिन लाई होय ॥
जल बिन जैसो मछली तलफे, सो गति मेरी होय ॥
दरद की मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहि कोय।
'मीराँ' की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होय ॥"

प्रेम कोई फूलो को सेज नही है। प्रेम प्रातःकालीन सूर्य की रश्मिराशियो के समान जिस वस्तु पर पड़ता है, उसी को चमका देता है। जिस प्रेम की अवस्थाओ मे विपर्य्यय नहीं है, जो अपने

रंग मे आपही शराबोर है, जो प्रेम आत्म-समर्पण द्वारा उसी मुक्ति का देनेवाला है, जिसकी महिमा बीसवी शताब्दी मे महाकवि रवीन्द्र ने इस प्रकार गायी है—

"श्ये दिन ऑमार मुक्ती जाये हवे हे चिरवांछित ।
तोमार लीलाय मोर लीला ,
जे दिन तोमार संगे गीत रंगे तले तले मिला ।"

वही वास्तविक प्रेम है । और मीराँ इसका ज्वलंत उदाहरण है ।

भक्ति-प्रधान होने से इनकी कविता मे शान्त रस का ही आधिक्य है । मीराँ का हृदय ही भतिक्से परिप्लावित था । निरन्तर गिरिधर के सम्पर्क मे रहने के कारण उनकी वाणी हृदय-बेधक भावों की प्रकाशक होगई थी । इसके साक्षी उनके पद हैं । उनके पदो से ईश्वर के प्रति एकान्त प्रेम, तथैव सांसारिक व्यापारो के प्रति वैराग्य झलकता है । यथा—

रस

(राग खमाच)

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई ।
दूसरा न कोई साधो, सकल लोक जोई ॥
भाई छोड़्या, बन्धु छोड़्या, छोड़्या सगा सोई ।
साधु संग बैठ-बैठ, लोक लाज खोई ॥

भगत देख राजी हुई, जगत देख रोई ।
अंसुवन जल सीच-सीच प्रेम बेल बोई ॥
दधिमथ घृत काढ़ि लियो, डार दई छोई ।
राणा विष को प्याला भेज्यो, पीय मगन होई ॥
अब तो बात फैल पड़ी, जाने सब कोई ।
'मीराँ' इम लगण लागी, होनी होय सो होई ॥"

कृष्ण का उपास्यदेव होना ही मीराँ के शृंगार-वर्णन का कारण है । पर शृङ्गार होने पर भी उसमे मस्ती न होकर अपूर्व शान्ति ही प्रकट होती है । उनकी कविता अलौकिक शृंगारमूलक है । वह "माधुर्य्यमयी" है । उनकी परिकीया बिहारी की परिकीया नही है । उन्हें तो वास्तविक भक्ति के आदर्श का निरूपण करना है । जिस प्रकार परिकीया का प्रेम अपने प्रियतम पर होता है, उसी प्रकार सच्चे भक्त का प्रेम अपने उपास्य पर होना चाहिये । इसी का नाम प्रेम-भक्ति है । इसी का नाम प्रेम-रसास्वादन है । दोनो की तुलना का कैसा सुन्दर चित्र इन पंक्तियों मे खीचा गया है—

"मैं बिरहिन बैठी जॉगू, जगत सब सोवै री आली ॥
बिरहिन बैठी रंगमहल मे, मोतियन की लड़पोवै ।
इक बिरहिन हम ऐसी देखी, अँसुवन माला पोवै ॥
तारा गिण-गिण रैण बिहानी सुखकी घड़ी कब आवै ।
'मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, मिल के बिछुड़ न जावै ॥ री आला ॥

दोनों का माध्यम एक है—माला, दोनो का लक्ष्य भी एक ही है—प्रियतम से मिलन। विभिन्नता केवल साधन के रूप मे है। सांसारिक माया मे लिप्त रहनेवालो की दृष्टि केवल बहुमूल्य वस्तुओ पर ही पड़ सकती है, परन्तु ईश्वर के विरह मे पगली हो जानेवाली प्रेमिका का क्षेत्र दूसरा है। प्रियतम बहुमूल्य उपहारो द्वारा प्राप्त नही होसकता। राजघरानो के वातावरण मे पली हुई बिरहिणियाँ प्रकृति की उपासिकाओ से कैसे आगे बढ़ सकती है? मोतियो की माला बनाकर प्रियतम का स्मरण करना एक सांसारिक स्वार्थ दिखाई पड़ता है; परन्तु आँसुओ की माला मे आत्म-समर्पण की पूरी-पूरी झलक है। और ऐसा भला क्यो न हो? अमूल्य की प्राप्ति अमूल्य ही से हो सकती है। अलौकिकी के लिए ही दुष्कार्य कार्य किया जाता है। साधारण अग्नि मे जलने का कोई विशेष महत्व नही। प्रचण्ड ज्वाला मे तपने पर ही सोना कुन्दन होता है। फिर यदि अपने हृदय-पुष्प की पखेड़ियो से निकल भागनेवाले के लिए मीराँ ने उसी से प्रत्युत्पन्न आँसुओं का आश्रय लिया तो इसमे आश्चर्य ही क्या?

सावन तथा होली आदि के वर्णन भी इसी अलौकिक भक्ति-भाव के प्रदर्शक हैं। उनका प्रयोग उस उद्दीपन-विभाव के लिए नही हुआ है, जिसके लिए देव और बिहारी की झड़ी लगी है। यहाँ तो प्रकृति का अपने प्रियतम से मिलन देख जीवात्मा की

परमात्मा से मिलने की उत्सुकता का ही केवल चित्रण करना है। यथा—

"उमग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै, दामिन छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिलन के काज।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, बेग मिलो महाराज॥"

वास्तव मे मीरा की आत्मा का प्रकृति से वही सामञ्जस्य था जो एक सच्चे कवि मे होना चाहिए। यदि कालिदास ने मेघदूत से यक्ष का सँदेसा भिजवाया है, तो मीरा भी उससे अपने प्रियतम का समाचार पाने को उत्सुक है। उसको तो ससार की प्रत्येक वस्तु ही प्रियतममय जान पड़ती है। सावन की श्याम-घटा देखकर उसे हरि के स्वरूप का स्मरण हो आता है और वह पूछने लगती है—

"मतवारो बादल आयो रे, हरि को सँदेसो कछु नहिं लायो रे।"

नन्ही-नन्ही बूँदें पड़ रही है। बड़े परिश्रम के अनन्तर प्रियतम का आगमन हुआ है, परन्तु बहुत ही शीघ्र चले जाने की आशङ्का है। आदर्श हिन्दू-प्रेमिका प्रेमी से अधिक नहीं कह सकती। विवश होकर उसे दैवी शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। धनुष-यज्ञ के समय रामचन्द्र को पिनाक उठाने जाते देखकर सती सीता के हृदय मे जो भाव उत्पन्न हुआ था, प्राय· वैसा ही भाव यहाँ भी दिखाई पड़ता है। सीता ने धनुष के भारी होने के कारण प्रार्थना की थी कि वह हल्का हो जाय और यहाँ प्रेमिका यह

प्रार्थना कर रही है कि पानी अधिक वेग से पड़ने लगे। कैसी स्वाभाविकता है!—मनोविज्ञान के पाठक स्वयं देख सकते हैं। पद यह है—

"मेहा बरसबो।करेरे, आज तो रमियो मेरे घरे रे।
नान्हीं-नान्हीं बूंद मेघ-घन बरसे, सूखे सरवर भरे रे।
बहुत दिना पै प्रीतम पायो, बिछुरन को मोहिं डर रे॥

गीतिकाव्य होने के कारण मीरा की कविता मे छन्दो की वह विभिन्नता नही हो सकती जो तुलसी, केशव आदि मे सम्भव है।

छन्द

हॉ, राग-रागिनियो के भेद अनेक हैं। मीरा का 'मलार' राग तो विशेष प्रसिद्ध है ही, 'कल्याण' और 'मारू' आदि में भी उनके उत्तम भजन हैं। यथा—

"राखो रे श्याम हरी, लज्जा मोरी राखो श्याम हरी।"

गाने योग्य छंद पद कहे जाते है। मीरा के अधिकांश पद संगीत के सुर-लय से बँधे हुए हैं। कवि के लिए संगीत-शास्त्र की अभिज्ञता परमावश्यक है। वास्तव मे यदि कविता शरीर है तो संगीत हृदय और रस आत्मा; और मीरा की कविता में इन तीनो का सामञ्जस्य है।

मीरा के पदो की अन्तिम पंक्ति में विभिन्नता पाई जाती है। गुजराती लेखकों की सम्मति में "मीरा कहे प्रभु गिरिधर नागुन" ठीक जँचता है; क्योकि मीरा की भक्ति दासभाव की थी।

वह गिरिधर के गुण गान किया करती थीं। गुजराती में तो अर्थ ठीक बैठ जाता है; परन्तु हिन्दी में 'ना' की जगह 'का' या 'के' करना पड़ेगा। समझ मे नहीं आता कि "गिरिधर नागुन" के स्थान पर "गिरिधर नागर" होने में क्या कठिनाई पड़ सकती है?

अलंकार

मीराबाई अलंकारो की उपासिका नहीं थीं, फिर भी उनकी कविता मे अलंकारो का उतना ही स्थान है जितना स्वाभाविक कविता मे होना चाहिए। थोड़ी सी पंक्तियो मे ही उन्होंने नन्ददास की-सी शब्दयोजना किस ख़ूबी साथ के दिखा दी है—अनुप्रास का कैसा अच्छा उदाहरण है। देखिये—

"कुंडल की अलक झलक, कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि, तिलक भाल, चितवन मे टोना।
खंजन अरु मधुप मीन, भूले मृग-छोना॥"

इनकी उत्प्रेक्षा और प्रतीप तो बस सूर के 'कुंडल मकर कपोलन के ढिग जनु रवि रैनिबिहाने" तथा "खंजन मीन मृगज चपलाई नहि पटतर इकसैन" इत्यादि पदो की याद दिला देते हैं। दृष्टान्त, उपमा, रूपक आदि के भी अच्छे उदाहरण इनकी कविता मे विद्यमान है, जिन सबका उल्लेख इस छोटे से निबन्ध मे नहीं किया जा सकता।

मीराबाई की पदावली भाषा-विज्ञान का भी एक बड़ा ही रोचक विषय है। मीरा का सम्बन्ध चार विभिन्न प्रदेशों से रहा है—मारवाड़, मेवाड़, ब्रज तथा गुजरात। यद्यपि इनके पद इन चारों स्थानों की भाषाओं में पाये जाते हैं, परन्तु आधिक्य केवल ब्रजभाषा के पदों का है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि ब्रजभाषा ही उस समय की कविता की भाषा थी, और इसलिए ये भी कृष्ण की भक्त होती हुई अपने को इस प्रभाव से न बचा सकीं। कृष्ण-लीला-सम्बन्धी पद शुद्ध ब्रजभाषा के अच्छे उदाहरण हैं। यथा—

भाषा

"झूलत राधा संग गिरिधर, झूलत राधासंग।
अबीर गुलाल की धूम मचाई, डारत पिचकारी रंग॥
लाल भयो वृन्दाबन जमुना केसर चुअत अनंग।"

परन्तु इनके पदों में अन्य भाषाओं के भी शब्द पाये जाते हैं, जैसे दीदार, नज़र, तकसीर, कुदरत के कुरबान, हाजिर, नाज़िर अरजी, मरजी इत्यादि फ़ारसी शब्द। पूर्वी में तो इनके कई सुन्दर पद तक मिलते हैं, जिनमें से कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

"जसुमति के दुवरवाँ, ग्वालिन सब जाय।
बरजहु आपन दुलरुवा, हमसों अरुझाय॥"

तथा—

"कहँ गइलें बछरू, कहँ गइलीं गाय।
कहँ गइलें धेनु चरावन राय॥
कहँ गइली गोपी, कहँ गइलें बाल।
कहँ गइले मुरली बजावनहार॥
'मीरा' के प्रभु गिरिधरलाल।
तुम्हरे दरस बिनु भइल बेहाल॥"

यदि ये पंक्तियाँ मीरा की बनायी हुई हैं, तो इसका कारण उनका सब जगह के साधुओं से सत्संग ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त इनकी रचना मे प्रचलित मुहाविरों का भी अच्छा प्रयोग हुआ है। यथा—"घायल की गत घायल जाने", "दाध्या ऊपर लूण लगायो" इत्यादि। वास्तव मे उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि वह जहाँ गईं, वहाँ की भाषा पर तो पूर्ण अधिकार कर ही लिया। वहाँ के लोगो के रहन-सहन का भी अध्ययन करती गईं। उन्होने नीचे की पंक्ति मे कितनी सुन्दरता के साथ ब्रजबाला को पनघट से कलसी पर कलसी रक्खे हुए जाने का चित्र खींचा है! देखिये—

"सिर पर कलस, कलस पर झारी, झारी पै बैठी झारी मौज करे रे।"

इसके अतिरिक्त मीरा ने मुरली पर भी उत्तम पद कहे हैं। ये पद उनकी उक्ति-चातुर्य्य के अच्छे उदाहरण हैं।

यथा—

"कौन गुमान भरी, तू बंसी, कौन गुमान भरी।
अपने तन पर छेद परेचे, बाला तू बिछुरी॥
जाति-पाँति सब तोरी मैं जानूँ, तू बन की लकरी।
'मीरा' कहे प्रभु गिरिधर नागर, राधा से क्यूं बिछुरी॥"

तथा—

"श्री राधारानी, दे डारो जी बशी मोरी।
हीरे की ना है, रूपे की ना है, हरी बाँस की पोरी।
काहे ते गाऊँ, करताल बजाऊं, काह ते लाऊँ गइयाँ घेरी॥
मुँह ते गाओ, करताल बजाओ, लकुटते लाओ गइयाँ घेरी।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, मैं तो चरन की चेरी॥"

हिन्दी-साहित्य में मीरा का क्या स्थान है, इसका निर्णय रसिक पाठकों पर ही छोड़ा जाता है। रहा उनकी कविता का प्रभाव, सो उसके लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि आज लगभग ४०० वर्षों के उपरान्त भी बड़े-बड़े प्रासादोंसे लेकर छोटी-मोटी कुटियों तक मे उनके गीत बडे चाव से गाये जायँ। एक तो उच्च कविता का मुख्य आधार कृष्णप्रेम, फिर मीरा की चमत्कारिक प्रतिभा, उस पर भाषा पर अधिकार और गाने योग्य भजनो की रचनाशैली। अब यदि मीरा का काव्य विश्व के श्रेष्ठतम काव्यों में गिना न

मीरा की कविता की विशेषता और हिन्दी-साहित्य में उनका स्थान

जाय तो हो क्या ? हिन्दी के शुद्ध भक्तिमय गीतिकाव्य में तो मीरा का पद कदाचित् ही सूर से उतरकर हो। सूर तथा मीरा का आधार क्रमशः श्रीमद्भागवत तथा गीतगोविन्द है, परन्तु मीरा में एक विशेषता है। इष्टदेव को अपनी भक्ति-पुष्पाञ्जलि अर्पण करने के लिए सूर ने गोपियो का आश्रय लिया है; परन्तु मीरा को किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं। उनका हृदय ही उनकी वीणा है, सुननेवाला कहीं मथुरा अथवा द्वारका का वासी नहीं, वह तो उनके हृदय मे ही निवास करता है। इसी से मीरा की कविता मे व्यक्तित्व की गहरी छाप लगी हुई है। हृदय के सच्चे उद्गार होने के कारण उनकी कविता भावुकतामयी है। इनके पदो की वाणी वनिता-तुल्य ललित, कोमल तथा मधुर रसपूर्ण है। मीरा की कविता मे स्वाभाविकता, सरलता प्रेमपरता का यथोचित सामञ्जस्य है। हृदय वाद्ययन्त्र है, रसना रीड़ है, इच्छा उंगली है और भाषा झङ्कार। आनन्दविह्वला मीरा की तंत्री की झङ्कार देखिये, कैसे कोमल सुरो मे सुनाई पड़ती है!—

"बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनी मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल॥
छुद्र घंटिका कटितट सोभित, नुपुर सब्द रसाल।
'मीरा' प्रभु संतन सुखदाई, भक्तबछल गोपाल॥"

इस पद के पढ़ने मात्र से हमारी आँखो के सामने कृष्ण की साँवली मूर्ति, गुलाबी होठो पर वंशी की तान सुनाते, दिखाई पड़ने लगती है. तो उस समय मीरा के हृदय की क्या दशा होती होगी, जब वह स्वयं हाथो में करताल ले, इस भजन को "देवगांधार" में, प्रातःकाल, अनन्य भाव से, अपने गिरिधर नागर के सम्मुख, गाती होगी। मीरा के हृदय-कुञ्ज मे से काव्य के फव्वारो से उत्पन्न होनेवाली प्रेमोर्मियाँ सचमुच अन्तःकरण को अत्यन्त प्रशान्त और सुखमय कर देती है।*

---

* जहाँ तक प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों से पता चलता है, वहाँ तक, लेखक के मत से, " मीरां" नाम ही शुद्ध प्रतीत होता है। पर हिन्दी में "मीरा" लिखने का ही प्रचलन हो गया है। इसीलिए इसमें भी "मीरां" के बजाय "मीरा" रूप ही दिया गया है।---सम्पादक।

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का कहाँ तक प्रभाव पड़ है, यह जानने के लिए पहले यह देख लेना चाहिए कि संस्कृत साहित्य मे कौन-कौन विषय प्रधान रूप से पाये जाते हैं, और उनमें से किन-किन विषयो का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर कहाँ तक पड़ा है। फिर इसके उपरान्त हिन्दी-साहित्य के इतिहास को, आदि से अन्त तक, देख जाना चाहिए और तदुपरान्त यह निर्णय करना चाहिए कि हिन्दी मे कौन-कौन से ऐसे विषय हैं जो संस्कृत-साहित्य के आधार पर स्थित हैं और कौन ऐसे विषय है, जो कुछ अंशो मे

संस्कृत-साहित्य के अनुगृहीत हैं, और कौन ऐसे हैं, जिन पर संस्कृत साहित्य की छाया भी नही पड़ी है ।

सब से पहले हम संस्कृत-साहित्य को ही उठाते है । इसके पहले कि इस विषय पर कुछ विचार किया जाय, यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि यह लेख दोनो भाषाओं के केवल साहित्य से ही सम्बन्ध रखता है, भाषा से नहीं ।

संस्कृत-साहित्य के सबसे प्राचीन स्तम्भ वेद है। उनमें चार मुख्यतम माने गये है । इनमे ऋग्वेद सब से प्राचीन है इसका समय ईसा से प्रायः दो हजार वर्ष पहले माना जाता है। इसके बाद क्रमशः और वेदो की रचना हुई । हिन्दी-संसार मे कोई भी ऐसी वस्तु नहीं,जिसपर वेदो का कुछ प्रभाव मालूम होता हो । वेदो के बाद ब्राह्मण-काल और उपनिषद्-काल आता है । इनकी भी छाया कहीं भी हिन्दी-संसार मे नहीं मालूम होती । उपनिषदो में ही भारत के छै प्रसिद्ध दर्शनो के बीज पाये जाते हैं । आधुनिक हिन्दी-गद्य मे कही-कहीं उपनिषदो की कुछ छाया प्रतीत होती है, परन्तु वह भी इस प्रकार कि नही के बराबर ।

वेदों के उपरान्त संस्कृत-साहित्य में वीर गाथाओं (ep.cs का समय आता है। इनमें महर्षि व्यासका महाभारत और वाल्मीकि का रामायण सबसे प्रसिद्ध है । इनमे रामायण का प्रभाव अवश्य कुछ अंशो मे हिन्दी पर पड़ा है । विशेषकर अध्यात्म रामायण का।

तुलसीकृत रामायण वाल्मीकीय रामायण और अध्यात्म रामायण से, कहाँ तक सम्बन्ध रखता है, यह हम आगे चलकर देखेंगे।

वीर गाथाओ के बाद दर्शन-काल आता है। जिन दार्शनिक सिद्धान्तो का आभास उपनिषदो मे पाया जाता है, वे इस समय पूर्ण विकास को प्राप्त होते हैं। दर्शन की छै विभिन्न शाखाएँ निकली और ये छओ अपने-अपने विषय पर अन्तिम शब्द कह गयी। हिन्दी क्या, संसार के किसी भी साहित्य मे, कही भी, इस प्रकार की उच्चतम कोटि की दार्शनिक मीमांसा देखने मे नहीं आती। हमारे ऋषियो ने जिस विषय को उठाया है, उसको ऐसा नहीं रहने दिया कि उस पर फिर भी कोई कुछ कह सके। साधारण मनुष्य के मस्तिष्क में दार्शनिक विचारो को जहाँ पराकाष्ठा हो जाती है, वहाँ से इन पतञ्जलि आदि ऋषियो की विचार-शृखला आरम्भ होती है। उनकी देखादेखी या उनके विचारो के आधार पर दर्शन-शास्त्र पर कुछ लिखना तो दूर रहा, उनके समझने मे ही आजकल के दार्शनिको के दिमाग़ का दिवाला निकल जाता है। इन दर्शनो के अनुवाद कुछ अवश्य हो गये हैं, सो भी विशेषकर पाश्चात्य भाषाओ मे।

अस्तु, अब हम दार्शनिक विचारो को छोड़कर ज़रा धर्म्मशास्त्र की ओर मुड़ते हैं। इनका नाम स्मृति है। ये कई हैं। जिनमे मनु, याज्ञवल्क्य, और पाराशर-स्मृति मुख्य कही जाती हैं। इनका आधार

वेद है। कहा जाता है, स्मृति (स्मरण रखने की वस्तु) श्रुति (सुनी हुई वस्तु) का छाया की भांति अनुसरण करती है। इनकी रचना पहले सूत्रो मे हुई और इतने संक्षिप्त रूप मे हुई कि एक-एक सूत्र की व्याख्या मे एक-एक छोटी-मोटी पुस्तक बन सकती है। सूत्रकारो ने संक्षेप-क्रिया की कुशलता मे हद कर दी। इतने संक्षेप की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि एक ब्राह्मण के लिए जितने ग्रन्थों को कण्ठस्थ रखना अनिवार्य था, उनका आकार दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। उन ब्राह्मणो को भी, जिन्होने हज़ारो वर्ष तक वेदो की रक्षा स्मृति-पटल मे ही की, स्मरण रखने के लिये सक्षेप-करण के उपाय का अवलम्बन करना पड़ा। उन दिनो काग़ज़ नहीं था। विद्या लाइबेरी मे नही, बल्कि दिमाग़ मे थी। सो ये गृह्यसूत्र, धर्म्म-सूत्र तथा स्मृतियॉ इतने सक्षिप्त रूप मे बनीं कि इनका प्रभाव किसी भी भाषा-साहित्य पर पड़ना असम्भव हो गया। आजकल हिन्दी मे मनु आदि का कोरा अनुवाद-मात्र देखने मे आता है।

अब हम संस्कृत-साहित्य की उन शाखाओ की ओर मुड़ते है, जिनका प्रभाव विशेष से रूप हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है। इसको अंगरेज़ी मे Classical Literature कहते हैं। इसको हम चार भागो मे विभक्त कर सकते हैं।

(क) काव्य

(ख) नाटक

(ग) गद्य

(घ) कथा

काव्य

संस्कृत मे बड़े बड़े कवियो ने कुछ महाकाव्य लिखे है। इनको पद्यमय इतिहास कहना अनुचित न होगा। इनकी सर्ग-संख्या १० से २५ तक होती है। और किसी-किसी सर्ग मे छे-छे सौ तक श्लोक होते है। इनमे चार बहुत प्रसिद्ध है। महाकवि कालिदास का रघुवंश, भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपाल-वध और श्रीहर्ष का नैषधीय-चरित। आधुनिक या प्राचीन, किसी भी हिन्दी-कविता मे इनके ढंग पर महाकाव्य की रचना मे किसी हिन्दी-कवि ने हाथ नही डाला।

पण्डित अयोध्यासिह उपाध्याय-रचित 'प्रियप्रवास' का नाम महाकाव्य अवश्य रक्खा गया, पर वह एक बिलकुल स्वतन्त्र ग्रन्थ है। केवल नाम ही भर शायद संस्कृत महाकाव्यो की अनुकृति है। यह अवश्य है कि छन्द भी दोहा-चौपाई आदि न होकर शिखरिणी आदि संस्कृत के ही है और लक्षण-ग्रन्थो मे महाकाव्य के जो लक्षण लिखे गये है, उनमे से कुछ अवश्य प्रियप्रवास मे विद्यमान् है, पर यह सब होते हुए भी यह नही कहा जा सकता। कि प्रियप्रवास पर संस्कृत महाकाव्यो का प्रभाव पड़ा है। और तर्क के लिए यदि मान भी लिया जाय कि ऐसा है, तो भी किसी एक

कवि की कृति पर यह मान बैठना कि हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव पड़ा है, युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। किसी भाषा के साहित्य पर किसी अन्य भाषा का प्रभाव पड़ना उस अवस्था में कहा जा सकता है जब दोनो भाषाओं मे किसी एक ढंग के कुछ ग्रन्थ मिलें।

नाटक

अब संस्कृत-नाटको को लीजिये। कालिदास और भवभूति के समय तक संस्कृत नाटककला अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गई थी, यहाँ तक कि भरत तथा धनञ्जय आदि आचार्यों ने लक्षण-ग्रन्थ तक लिख डाले थे। इनके कुछ ही दिनो बाद नाटककला का ह्रास होने लगा। सस्कृत नाटककार विषय तथा भावो की मधुरता की ओर कम ध्यान देने लगे, और शब्दो के खेलमें अपना सारा पाण्डित्य खर्च करने लगे। यहाँ तक कि अन्त मे शब्द-नैपुण्य और वाक्य-नैपुण्य के सिवा और कुछ रही न गया। ग्यारहवीं शताब्दी तक संस्कृत-नाटक का एक प्रकार से लोप हो चुका था। प्राकृत मे भी कर्पूरमञ्जरी आदि कुछ प्रथम श्रेणी के नाटक लिखे गये थे। इसके बाद नाटको के लिए प्रायः छै सौ वर्षों का अन्धकारमय समय आता है। मुसलिम राजत्व-काल में हमारी ललित-कलाओं के लिए स्थान न था। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-साहित्य पर दृष्टि डालते ही पहले

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नाटक सामने आते हैं। इनके कुछ नाटक तो अवश्य ही संस्कृत नाटको के आधार पर लिखे गये हैं। सस्कृत नाटको तथा उनके लक्षणग्रन्थो को को बाबू साहब ने ध्यान से पढ़ा और मुद्राराक्षस, कुर्पूर-मञ्जरी आदि छ नाटको का अनुवाद भी कर डाला, तथा उन्ही के ढंग पर सत्य-हरिश्चन्द्र आदि कुछ मौलिक नाटक भी लिखे और भारत-दुर्दशा आदि कुछ नाटक ऐसे राजनैतिक तथा स्वदेश-प्रेम के विषयो पर लिखे, जिनका संस्कृत-साहित्य मे कही पता नही है। इन्होंने धनञ्जय के दशरूपक के आधार पर नाटक के लक्षणो का भी कुछ निरूपण किया है।

बाबू हरिश्चन्द्र को छोड़कर अन्य नाटककारो की कृतियो में संस्कृत नाटक का प्रभाव नहीं ज्ञात होता। वाह्य आकार (form) तो अवश्य कुछ और भी कवियो ने संस्कृत नाटको के आधार पर खड़े किये हैं, जैसे नान्दी का मङ्गल-पाठ और सूत्रधार का आकर नटी या पारिपार्श्विक (साथी) से कथोपकथन मे खेले जाने वाले नाटक के विषय तथा कवि से श्रोताओ को परिचित कराना और फिर किसी प्रधान पात्र को प्रवेश कराके चले जाना आदि, ज्यो का त्यो, पहले के लिखे चले हुए नाटको में पाया जाता है। और कुछ बातें जैसे विष्कम्भक (Explanatory scene) आकाश-भाषित, स्वगत-भाषित आदि उपायों से काम लेना भी संस्कृत-नाटक से ही लिया गया है और संस्कृत नाटको

की एक खास बात जो संसार मे और कहीं भी नही पायी जाती, अर्थात् वियोगान्त नाटको का पूर्णतया अभाव, यह भी हिन्दी-नाटकों के अगले दिनो मे ज्यो का त्यो देखने मे आया। वियोगान्त Tragedy लिखते हुए हिन्दू नाटककार का जी न जाने क्यो दहलता है। नाटक की रोचकता बढ़ाने के लिए बीच मे सब प्रकार के दुख, भगा देंगे। यहां तक कि कही कही वियोगान्त अवस्था तक पहुँच जाती है, पर अन्त मे मिलन अवश्य दिखावेंगे और अन्तिम छन्द मे जिसे संस्कृत मे भरत-वाक्य कहते है, सारे संसार की शुभ कामना की प्रार्थना अवश्य की जाती हैं, और कोई दिव्य पुरुष 'एवमस्तु' कहता है और तब यवनिका गिरती है। ये बातें संस्कृत नाटक मे अनिवार्य्य हैं, और हिन्दी पर भी इनका पर्य्याप्त प्रभाव पड़ा, पर अब आधुनिक नाटककार पाश्चात्य महाकवियो की कृतियो से अधिक सम्बन्ध रखता है। आधुनिक हिन्दी-रङ्गमञ्च पर बङ्गाली, मराठी और अँगरेजी रङ्गमञ्चो की सुगन्ध अधिक आती है। वियोगान्त नाटक हिन्दी मे भी लिखे जाने लगे। 'रणधीर प्रेम-'मोहिनी' और 'जयन्त' ये दोनो भी वियोगान्त है। अब जनता और लेखक दोनो ही की प्रवृत्ति इस भाँति के नाटक देखने और लिखने की हो रही है। उपस्थित-काल मे जो नाटक देखने मे आ रहे है, उनमे से संस्कृत नाटक की सुगन्ध तक लोप हो गई है और प्रायः नाटक-सम्बन्धी सभी बातें पाश्चात्य-रीति के अनुसार होने लगी है।

गद्य

सस्कृत मे महाकाव्य और नाटक के ह्रास के साथ ही साथ संस्कृत गद्य का उदय होने लगा। बड़ी-बड़ी कथाएँ और आख्यायिकाएँ लिखी जाने लगी। इनमे बाणभट्ट की कादम्बरी और दण्डी का दशकुमार-चरित सबसे प्रसिद्ध है। इनकी भाषा बड़ी ही प्रौढ़, ओजस्विनी तथा लम्बे-लम्बे समासो से भरी हुई है। एक-एक वाक्य कई पन्नो तक चले जाते है और कभी कभी चार-चार पन्नो के बाद क्रिया समाप्त होती है। इसमे भी संस्कृत के कवियो ने नकल करने लायक कोई बात नही रक्खी, चाहे बुराई के कारण ऐसा हो, या अच्छाई के कारण। पाश्चात्य समालोचक ऐसी गठी हुई भाषा देखकर झल्ला उठते है और कोई-कोई तो यहाँ तक कह मारते है कि इनमे शाब्दिक इन्द्रजाल (Verbal jugglary) को छोड़कर और कुछ है ही नहीं। पर वास्तव मे बात ऐसी नहीं है। इन कथाओ को एक प्रकार का समुद्र कहना चाहिए, जिसमे बहुत सी अप्रिय वस्तुओ के साथ ही साथ अनमोल रत्नो की भी कमी नहीं है। भाषा को छोड़, इनके और लक्षण सब प्रायः महाकाव्य ही की भाँति होते है।

अब हमे भाषा के गद्य-साहित्य को सरसरी तौर से देख जाना चाहिए और यदि सम्भव हो, तो यह जानने की चेष्टा करनी चाहिए

कि इसमे कहीं संस्कृत-गद्य की भी छाया है या नहीं। हिन्दी गद्य-साहित्य के सबसे पुराने नमूने राजाओं के परवाने और पट्टे आदि मे मिलते है। इसके बाद हिन्दी-गद्य के सबसे प्रथम लेखक गुरू-गोरखनाथजी आते हैं। इन्होंने कुछ छोटे टुकड़े कहे है, जिनमें एक विचित्र भाँति के धार्मिक अथवा दार्शनिक उपदेश मिलते है। इसके बाद गोकुलनाथजी की चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता और २५२ वैष्णवो की वार्त्ता आती है। ये वार्त्तायें ठेठ ब्रजभाषा मे है और महाप्रभु बल्लभाचार्यजी के पुष्टिमार्गीय उपदेशो का निरूपण करती हैं। यह विषय सस्कृत-साहित्य से एकदम निराला है।

तदनन्तर केशवदास का शृंगार-शतक आता है। इस विषय के लिए मसाला संस्कृत-साहित्य से अवश्य लिया गया होगा। चंदौसी के नाथूराम की भागवत के दशम अध्याय की कथा भी ध्यान देने योग्य है। इसकी कथा तक भागवत से ली गयी है, जैसा कि इसके नाम ही से प्रकट हो रहा है।

अब इसके अनंतर हम आधुनिक हिन्दी के जन्मदाताओं के सम्मुख आते है। ये है सैयद इन्शाअल्लाखां, लल्लूजीलाल और पं० सदल मिश्र। खॉ साहब की 'रानी केतकी की कहानी सस्कृत साहित्य से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती; पर लल्लूजीलाल और सदल मिश्र अवश्य, कम से कम कथा भाग के लिए, संस्कृत-साहित्य के ऋणी है। 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' दोनो का

कथा-भाग संस्कृत से लिया गया है। किन्तु भाषा, शैली और विचार सब इनके अपने है। इनके बाद शिवप्रसाद सितारे-हिन्द और राजा लक्ष्मणसिह आते है। इनकी रचनाओ के विषय मे कुछ कहने के पहले, इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा कि यह समय प्राय १८५० ईसवी का है। इस समय भारत मे अग्रेजी वातावरण अपना प्रभाव दिखा रहा था। वर्नाक्यूलर स्कूल खोले जा रहे थे, भारत की पुरानी सभ्यता के स्थान पर पाश्चात्य सभ्यता अपना अधिकार जमाने लगी थी। उर्दू वर्णमाला पहले पहल चलाई गयी। इसी को बन्द करने के लिए शिवप्रसादजी ने देवनागरी वर्णों मे एक समाचार-पत्र निकालना आरम्भ किया और उसमे उर्दू शब्दो को शुद्ध हिन्दी के साथ-साथ रखने का दुस्साहस किया। ये हिन्दी और उर्दू को दो पृथक् भाषा मानने को तैयार नही थे, पर राजा लक्ष्मणसिंहजी उनका इस विषय में विरोध करते थे। वे उर्दू को दूसरी भाषा समझते थे। उनका अभिज्ञान-शाकुन्तल का हिन्दी-अनुवाद बहुत प्रसिद्ध है। इसके सिवाय सस्कृत-साहित्य से इन दोनो की कृतियो का कुछ सम्बन्ध नही है।

अब इधर सन् ५७ के बलवे के बाद, गद्य लेखको मे पहला स्थान भारतेन्दुजी का है। इनकी कृतियो पर संस्कृत-साहित्य का जो कुछ प्रभाव पड़ा, वह नाटक के सम्बन्ध मे है, जो ऊपर कहा जा चुका है।

कथा

इसके बाद उपन्यासो का समय आया। संस्कृत मे पञ्च-तन्त्र और हितोपदेशादिक जो गल्पमालाये मिलती है, उनका प्रभाव हिन्दी की कहानियो पर शायद ही पड़ा हो। देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने जो ऐयारी और तिलस्मी ढंग के उपन्यासो का लिखना आरम्भ किया, उनका संकेत भी संस्कृत-गद्य मे कही भी नही देख पड़ता। इनके उपरान्त प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी ऐसे बड़े-बड़े भाषा के आचार्यों का आविर्भाव हुआ। इनकी भाषा को परिमार्जित हिन्दी कहना चाहिए। भाषा प्राय. संस्कृतप्राय हो गई। भाषा को साहित्यिक बनाना इन्होंने इसीमें समझा कि वहाँ भी संस्कृत के तत्सम शब्द भर दिये जायँ, जहाँ मामूली बोल-चाल के शब्द मिलते हैं। द्विवेदीजी ने अपनी पुस्तको के लिए मसाला महाभारत तथा रामायण से बहुत कुछ लिया है। अब इस समय जो वर्तमान हिन्दी-गद्य तथा उपन्यास की अवस्था है, उसमे बँगला और अंग्रेज़ी का प्रभाव बहुत अधिक है। साहित्य-क्षेत्र मे धीरे-धीरे, परन्तु दृढ़ता के साथ, राजनीतिक तथा सामाजिक प्रश्न घर बनाते जा रहे है। विगत असहयोग आन्दोलन तथा ऐसे ही बहुत से अनेक आन्दोलनो की प्रतिध्वनि साहित्य-क्षेत्र को चारो ओर से व्याप्त कर रही है। अब कोई भी नया हिन्दी लेखक संस्कृत-साहित्य से नहीं; बल्कि पाश्चात्य

साहित्य की ओर आवश्यक उत्साह (Inspiration) के लिए मुड़ता है।

संस्कृत-साहित्य मे दो विषय ऐसे है जिनका प्रभाव हिन्दी पर बहुत अधिक पड़ा है। एक पुराण, दूसरे अलङ्कारशास्त्र। पौराणिक कथाओ के बारे मे ऊपर जहाँ-तहाँ हम प्रकाश डालते आये है। उनके विषय मे एक बात का स्मरण रखना बहुत आवश्यक है। वह यह कि पुराणो का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर केवल उनके बाह्यरूप (Form) का पड़ा है, न कि उनके विचार (Spirit) का। हाँ, अलङ्कारशास्त्रो और रसग्रन्थो के सम्बन्ध मे हिन्दी-साहित्य मे अपना कहने का कुछ भी नही है। देव और केशवादिक आचार्यों ने इस विषय पर जो कुछ लिखा, वह मम्मट और विश्वनाथ आदि संस्कृत आचार्यों के ही आधार पर, रस, अलङ्कार, भाव, विभाव, अनुभाव तथा रसो के स्थायी भाव, सञ्चारी भाव, अनुभाव तथा सात्विक भाव, इन सबो की परिभाषाएँ सस्कृत से ही ली गई है। और दूसरे ली ही कहाँ से जा सकती है? रस तथा रस-सम्बन्धी भावादिक सभी विषयो का ऐसा व्यापक विभाग संस्कृत के आचार्यो ने किया है कि बुद्धि चकरा जाती है। कोई भी बात नयी निकालने को रह ही नही गई। दर्शन और उपनिषद् तक तो ठीक है कि जंगलो मे रहनेवाले तपस्वी ऋषि लोग उन्हे न लिखेंगे तो और कौन लिखेगा। पर वायु-सेवनकर तप करनेवाले, यही ऋषि मुनि, इतने रसज्ञ और

मानव जीवन के मनोभावो के ज्ञाता भी हो सकते है, यह इन्ही लक्षण-ग्रन्थो तथा उनके दिये हुए उदाहरणो से ही विदित होता है। हिन्दी के आचार्यो ने उदाहरण अवश्य अपने निज के दिये है। देवजी ने एकाध सञ्चारीभाव तथा एकाध नया अलङ्कार भी निकाला है, परन्तु विचार से देखने पर वे सब उन्ही के अन्तर्गत मालूम होते हैं।

कोई-कोई हिन्दी कवियो के नायक-नायिका-भेद को मौलिक मानते है। पर इसमे बड़ा मतभेद है। दशरूपक तथा भारतीय नाट्यशास्त्र मे दिये हुए नायिका-भेद से ही हिन्दीवालो ने नायिका-भेद विस्तार-पूर्वक बनाया है। हिन्दी-कवियो मे जो नखसिख वर्णन का इतना बड़ा प्रपञ्च पाया जाता है, वह भी मौलिक नही है। महाकवि कालिदासादिक नखसिख-वर्णन पहले कर चुके है। हॉ, देवजी का 'अष्टयाम' जिसे प्रेमी और प्रेमिका का बारहो घटे का कार्य-विवरण (Love programme) कहना चाहिये, उनसे भी एक दर्जा आगे बढ़ गया है। इस प्रकार हिन्दी की शृंगाररस अथवा प्रेम रस की जितनी कविता है, सब पर संस्कृत का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा हुआ मालूम होता है।

हिन्दी के छन्दो पर भी संस्कृत का काफ़ी प्रभाव पड़ा है। विशेषतः आधुनिक हिन्दी-कविता पर। मध्यकाल के प्रधान छन्द दोहा, कवित्त, सवैया, सोरठा तथा चौपाई है। ये छन्द संस्कृत

छन्दो से भिन्न है। हिन्दी के छन्द मात्रिक होते है और संस्कृत के वर्णिक। आजकल के बाबू मैथिलीशरण गुप्त, ठा० गोपालशरणसिहजी आदि खड़ी बोली के कवि, शार्दूल विक्रीड़ित शिखरिणी इत्यादिक छन्दो को ज्यादा पसन्द करते है।

अब हम बहुत ही संक्षिप्त रूप से हिन्दी-साहित्य के इतिहास के प्रधान-प्रधान विभागो पर एक दृष्टि डालेंगे और यह निश्चय करने की चेष्टा करेगे कि किस विभाग में संस्कृत का प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास को हम तीन प्रधान भागो में विभक्त कर सकते है। पहला १२००—१४०० ई० तक (Bardic Period), दूसरा १४००—१६०० ई० तक धार्म्मिककाल (Religious Period), तीसरा १६००—१८०० ई० तक शृंगार (Erotic Period)। इस १२०० ई० से लेकर १८०० ई० तक हिन्दी-साहित्य मे विचार-धारा क्या थी, उसको किस प्रकार का वाह्य रूप दिया गया था और इस कार्य मे संस्कृत-साहित्य की कहाँ तक छाया पड़ी है, यही अब निश्चय करना है।

हिन्दी-साहित्य का सब से पुराना स्तम्भ चन्द का पृथ्वीराज-रासो माना जाता है। इसको कुछ लोग हिन्दी का महाभारत कहते है। इसमें असंख्य लड़ाइयो का वर्णन है। यह वीर रस का अपूर्व काव्य है और छन्द भी इसमे इसी रस के अनुकूल ही काम मे लाये गये है, जैसे भुजगप्रयात, छप्पय, तोटक, रोला,

इत्यादि। कही-कही शृगार का भी वर्णन है, पर बहुत कम। जो कुछ है, पृथ्वीराज के बीसो विवाहो के सम्बन्ध मे। इसके वाह्यरूप को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि महाभारत की छाया इस पर पडी है, पर विषय तथा विचारधारा, दोनो, पूर्णतया मौलिक प्रतीत होते है। इस काल के जितने ख्यात-नामा कवियो को हम जानते है वे प्राय: सब किसी न किसी राजा के आश्रय मे रहते थे और उनकी वंशावली तथा उनके पराक्रम के ऊपर सहस्रो पद बना डालते थे। इसमे हमको बहुत सी ऐतिहासिक बातो का पता चलता है, पर विषयो की सचाई के हिसाब से उनका मूल्य अधिक न लगाना चाहिए। ये कवि विशेषत भाट-वंश के होते थे और लड़ाइयो मे स्वयं भी जाते थे तथा वीर रस के उद्रेक करनेवाले कड़खे सुना-सुनाकर सैनिको को प्रोत्साहन देते हुए चलते थे। युद्ध-विद्या मे भी ये बहुधा निपुण हुआ करते थे। महाकवि चन्द ने अन्त तक अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज का साथ दिया और लड़ाइयो मे बराबर उनके साथ साथ रहे। इनकी कविता सब एक ही बार मे नही लिखी गई। इनको हिन्दी का आदि-कवि कहना चाहिए। जैसे वाल्मीकि ने रामायण लिखकर संस्कृत कविता की नीव डाली, उसी प्रकार चन्द ने हिन्दी कविता की।

इस समय के और प्रसिद्ध कवि जगनायक, जल्हण और उनके पुत्र शरंगधर है। जगनायक या जगनिक का आल्हखण्ड

अपठित तथा अल्पपठित लोगो मे बड़ा लोकप्रिय हो गया है। इसमे आल्हा-ऊदल की महोबा आदि की लड़ाइयो का ऐसा सजीव तथा उत्साह से रोगटे खड़े कर देनेवाला वर्णन है कि पुराकाल की लड़ाई के एक-एक दृश्य आखो के सामने दिखाई पडने लगते है। परन्तु भाषा इसकी कुछ ग्रामीण-सी है, इसी से देहात के लोगो मे इसका बड़ा आदर है। इन लोगो मे एक किम्वदन्ती अभी तक चली आती है कि मजाल क्या, कि १५ दिन आल्हा हो, और लाठी न चले। और सचमुच जब ढोल लेकर एक स्वर से आल्हा गाने बैठते है, तो एक प्रकार की वीररस की धारा-सी फूट निकलती है। ढंग इसका भी महाभारत से बहुत अशो मे मिलता है, पर विचार नहीं। महाभारत केवल लड़ाइयो का ही खज़ाना नहीं है, वह तो सब प्रकार के धार्म्मिक, सामाजिक, नैतिक तथा लौकिक विचारो का अक्षय भण्डार है। यह वह समुद्र है कि जिस विषय की आवश्यकता मनुष्य को हो सकती है वही इसमे मिल सकता है। अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि वीर गाथा लिखनेवाल भट्टकवि कुछ अंश तक अवश्य महाभारत के अनुगृहीत है और बहुत अंशो मे महाकाव्यो के।

इस काल में दो-एक मुसलमान कवियो ने हिन्दी मे कुछ शृङ्गार-रस की कविता की है। इनमे मुल्ला-दाऊद की नूरक और चन्दा की कहानी बहुत प्रसिद्ध है। अमीर ख़ुसरो भी इसी समय के है। पर इन लोगो की कविता मे संस्कृत-साहित्य

की कुछ भी झलक नहीं है। जब ये बिचारे संस्कृत जानते ही न थे तब उसका प्रभाव उन पर क्या पड़ता। इन लोगों तथा भट्ट-कवियों का भाषा और साहित्य, दोनों, पर प्राकृत तथा अपभ्रंश-विशेष डिङ्गल का प्रभाव अधिक जान पड़ता है। गुरू गोरख-नाथजी, जो हिन्दी-गद्य के प्रथम लेखक माने जाते हैं, इसी काल में उत्पन्न हुए थे।

अब इसके बाद सँन् १४०० से १६०० ई० तक धार्म्मिक-काल (Religious Period) माना जाता है। इस समय के धार्मिक केन्द्र ब्रज और अवध हैं। ब्रज का साहित्य ब्रज-भाषा में है और अवध का अवधी बोली में। ब्रजभाषा के दो मुख्य स्कूल माने गये हैं। एक के जन्मदाता निम्बार्क हैं, जिन्होंने गोपी-कृष्ण की उपासना का उपदेश दिया और उनके प्रधान अनुगामी, कविवर नन्ददासजी, हितहरिवंश और बाबा हरीदासजी हुए, दूसरों की नीव महाप्रभु बल्लभाचार्य ने डाली। इन्होंने बालकृष्ण की अर्थात् श्रीकृष्ण के बालरूप की महिमा गायी। इनके प्रधान अनुगामी कवि-श्रेष्ठ महात्मा सूरदासजी हुए यद्यपि इन पर भक्तशिरोमणि निम्बार्क की प्रचारित गोपीकृष्ण उपासना का प्रभाव अधिक पड़ता था। ब्रजभाषा के अष्ट-छाप के आठों कवियों में नन्ददास और सूरदासजी की ही कृतियाँ अधिक ध्यान देने योग्य हैं। नन्ददास-रचित भ्रमरगीत और रासपञ्चाध्यायी में पहले गोपियों का विरह है; जब

कृष्ण गोकुल छोड़ मथुरा मे रहने लगे थे और गोपियो को योग सिखलाने के लिए उद्धव भेजे गये थे, और फिर श्रीकृष्ण का गोपियो के साथ रास-क्रीड़ा वर्णित है। इन दोनो मे संस्कृत का कहीं भी संसर्ग नही प्रतीत होता। यदि कही किसी प्रकार का सम्बन्ध खीच-तानकर निकाला जा सकता है, तो वह भागवत पुराण का। हो सकता है, नन्ददासजी ने इसमे से कथा के लिए कुछ मसाला लिया हो।

अब सूरदासजी को लीजिए, इनको हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि कह सकते है। इनका प्रधान ग्रन्थ सूरसागर है। सूरसागर को कोई-कोई अज्ञानवश भागवत का अनुवाद कह डालते है। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। सूरसागर का विषय अवश्य भागवत से लिया गया है, पर उद्देश्य, विचार और शैली मे वह बिलकुल स्वतन्त्र है। भागवत की दसो अवतारो की झाँकी सूरसागर मे भी मिलती है, पर सूरसागर के दशम स्कन्ध मे कृष्णावतार की कथा इतने विस्तार से कही गई है और शेष अवतारो को इतने संक्षेप में निपटा दिया है कि ऐसा प्रतीत होता है, मानो सूरसागर का जो कुछ है, वह दशम स्कन्ध मे ही है। इसके बाद नवमस्कन्ध मे रामावतार की कथा भी कुछ विस्तार मे है। थोड़ा सा विस्तार आदि मे है, जहाँ सूरदासजी ने विनय के पद कहे है। इनको छोड़ शेष स्कन्धो मे कुछ इने-गिने पद हैं; सो उनमे भी सूरदास जी की उस प्रतिभा का कुछ भी आभास नही पाया जाता,

जो दशमस्कंध मे पाया जाता है। भागवत मे दानवों के वध की भरमार है, पर सूरदासजी ने भयानक रसों से यथाशक्ति दूर ही रहना पसन्द किया है। सूरसागर मे तीन बातें मुख्य हैं—श्रीकृष्ण का बालरूप, गोपियो का कृष्ण प्रेम और उनकी अनुपस्थिति मे उनका दुख। यही तीन बातें जो सूरसागर मे सब कुछ है, भागवत मे नही के बराबर है। फिर भागवत एक धर्म्म-कथा या पुराण है और सूरसागर एक गीति-काव्य। बाह्यरूप और शैली मे दोनो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है।

अब हम धार्म्मिक काल के अवधी साहित्य की ओर मुड़ते है। इसकी जड़ जमानेवाले स्वामी रामानंद हुए है। इनके प्रधान अनुगामी महात्मा कबीर और तुलसी है। स्वामी रामानन्दजी संस्कृत के विद्वान थे और गुसाई तुलसीदास भी संस्कृत के पूरे पण्डित थे। इन्होने संस्कृत-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। यही कारण है कि तुलसी के ग्रन्थो में जहाँ-तहाँ संस्कृत की छटा दिखाई देती है, ख़ासकर जहाँ कही गुसाईंजी अपने धार्मिक और दार्शनिक विचार प्रकट करते हैं। कहीं शंकराचार्य की अद्वैतवाद की छटा दिखाई देती है तो कही विशिष्टाद्वैत की। इनके रामायण को कोई-कोई वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद कहते हैं, जो बिलकुल असंगत है। इसकी कथा अवश्य वहाँ से ली गई है, पर केवल वही से नही; अध्यात्म रामायण, प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक आदि और भी कई ग्रन्थो से। रामायण का कुछ

भाग कही-कही भागवत से भी मिलता-जुलता है, जैसे किष्किन्धा-काण्ड का वर्षाऋतु वर्णन। रामचरितमानस भी वाल्मीकीय रामायण की भॉति एक प्रबन्ध-काव्य है, पर उसमे भक्ति प्रधान है और शान्त रस की विशेषता पायी जाती है। कथाओ को ध्यान देने से ज्ञात होता है कि मानस अध्यात्म-रामायण का अधिक अनुगामी है और वाल्मीकीय का कम। वाल्मीकीय मे राम को अवतार मानकर कही भक्ति का स्पष्ट उपदेश नही है, जो मानस का सर्वस्व है और जिसका बीज तुलसी ने अध्यात्म से लिया है। यह तो रहा विषय के बारे मे। वाह्यरूप मानस का निराला है। वह दोहा-चौपाई मे वर्णित है। अलङ्कार तुलसी के अपने है। अनेक स्थानो पर उन्होने दृश्यकाव्य की सी सजीवता उपस्थित कर दी है, जो संस्कृत ग्रन्थों में नहीं है। मानस के उपरान्त तुलसी के और भी कई ग्रन्थ मिलते है। उनमे गीतावली और कवितावली मुख्य है। इनमे संस्कृत के प्रभाव का पूरा अभाव है।

अब कबीर को लीजिए। इनका स्थान हिन्दी-साहित्य मे एकदम निराला है। इनके दार्शनिक विचार तो सस्कृत के अद्वैतवादियो से बहुत कुछ मिलते है, पर ये स्वयं संस्कृत नही जानते थे। इनकी कविता मे जो कुछ भी संस्कृत की झलक आती है वह इनके गुरु स्वामी रामानन्द से होकर आयी है। कबीर तथा उनके अनुयायी नानक जैसे बाबा लोगो की शुष्क कविता मे संस्कृत

एकदम नहीं है, यह कहना भी अनुचित न होगा। इनमे से बहुत से निरक्षर (Illiterate)थे। कबीर स्वयं ऐसे थे। इन लोगो ने एक स्वर से वेद-पुराण आदि तथा सगुण उपासना की निन्दा कर डाली है।

इसी काल मे प्रेम की धारा बहानेवाले कुछ रसीले मुसलमान कवियो ने शृंगाररस की उत्तम पुस्तकें लिखी है, जैसे जायसी का पदमावत और अखरावट। कुतबन मियाँ की मधुमालती, मुग्धावती और प्रेमावती, उसमान की चित्रावली और नूरमहम्मद की इन्द्रावती। ये सब अवधी भाषा मे दोहा और चौपाइयो मे लिखी गई है।

इन सबो मे प्रेमरस को छोड़कर कुछ है ही नही। और सब बाते तो इनकी सस्कृत-साहित्य से दूर हैं ही; प्रेम का विषय जो इन पुस्तको मे दृष्टिगोचर होता है, वह भी बिलकुल निराला है—ख़ासकर विप्रलम्भ शृगार-वर्णन मे तो ये लोग कभी-कभी ऐसी उड़ान भरते हैं कि हँसी रोकना मुश्किल हो जाता है। इनकी नायिकाएँ जब विराहानल का दीर्घ निश्वास छोड़ती है तो जंगलो मे आग लग जाती है और उसके धुएँ से आसमान काला दिखाई देता है! ये लोग सस्कृत नही जानते थे। इनके ग्रन्थो मे सूफीमत के सिद्धान्त प्रायः दिखाई पड़ते है और मसनवी विचारो की भी कमी नही है। इन सब बातो के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि संस्कृत के महाकाव्यो की गम्भीरता

का आभास हिन्दी कविता मे यदि कही मिलता है तो इन्ही पद्मावत आदि ग्रन्थो मे, यद्यपि इनके लेखको को इस बात का पता न होगा। रामचरितमानस को कोई-कोई महाकाव्य मानते है पर यथार्थ मे मानस का ढंग महाकाव्यो का सा नही है।

अब केवल शृंगार-काल (Erotic Period) देखने को रह गया है। इसका समय सन १६००—१८००ई० तक माना जाता है। यह वह समय है, जब हिन्दी कविता उच्चतम शिखर पर पहुँच गई थी और जिसके बाद उसका अधःपतन आरम्भ होगया। केशव, देव तथा मतिराम ऐसे बड़े-बड़े साहित्याचार्य इसी समय के है। विलासपूर्ण मुग़ल राजदर्बार से इन कवियो का अधिकाधिक संसर्ग होने के कारण इनकी कविता मे शृंगार और शृंगार मे भी नायिका-वर्णन का साम्राज्य पाया जाता है। साथ ही इसके वह समय भी यही था, जब संस्कृत-साहित्य का सबसे अधिक प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा हुआ दिखाई देता है। हिन्दी के प्रथम आचार्य केशव ने अपनी प्रिया मे जिन लक्षणो का निरूपण किया है, वे संस्कृत से विभिन्न नहीं हैं। अस्तु, इस विषय पर हम पहले कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अब उन्हे दुहराने की आवश्यकता नही प्रतीत होती। इन्ही शृंगारी कवियो के बीच मे, मालती-कुञ्ज मे गुलाब के कटीले वृक्ष की तरह भूषण की रौद्र रस की भीषण कविता भी दिखाई पड़ जाती है। इनकी कविता पर वीर-गाथाओ के भाट कवियो का—विशेषत-

चद का—प्रभाव पड़ा हुआ मालूम होता है। इसी ढग के कुछ कवि और भी इस काल मे हुए है। जैसे—

गोरेलाल .. छत्रप्रकाश के रचयिता
सूदन सुजान-चरित ,,
पद्माकर ... हिम्मतबहादुर ,,
और मुरलीधर आदि।

शृंगारी कवियो मे मुख्य देव, केशव, विहारी तथा मतिराम है। विहारी की सतसई भी सस्कृत के प्रभाव से मुक्त नही है। संस्कृत कवि इस प्रकार की सप्तशतिकाएँ और शतक बहुत से लिख चुके है।

इस काल के बाद आधुनिक काल का समय आता है। इसे १८००ई० से लेकर आजतक समझना चाहिए। यह गद्य-काव्य तथा जातक का युग है। इस युग के शुरू मे शृङ्गार की प्रधानता चली आई है, पर इधर कुछ दिनो से साहित्यिक वातावरण बिलकुल बदल गया है। अब नये-नये विषय, जिनकी कल्पना भी पहले के साहित्य में न थी, अब के साहित्यक्षेत्र मे अवतीर्ण कर रहे है, जैसे राजनीति, राजनीतिक क्रान्तिकारी विचार, सामाजिक क्रांतिकारी विचार तथा छायावादी कवियों के विचार इत्यादि। कविता अब विशेषत: खड़ीबोली मे होती है। ऐसी अवस्था मे यहाँ संस्कृत-साहित्य का प्रभाव ढूँढ़ना झख मारना है।

इस लेख को समाप्त करने के पहले छायावादी कवियो

की कविता के विषय मे एक बात कहे विना नही रह सकता। इस स्कूल के जन्मदाता Mystic शिरोमणि (रहस्यवादी) कबीर मालूम होते है। उन्ही के आधार पर बङ्गाल के छायावादी कवियो की एक गोष्ठी बनी, जिसमे प्रमुख कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर है। इनको गूढ़ाति-गूढ़ दार्शनिक विचारो से भरे हुए कबीर के पद शायद बहुत रुचते है। इसीसे शायद कबीर के सैकड़ो पदो का इन्होने अनुवाद भी बॅगला मे कर डाला है, और उसी प्रकार गुह्य भावो से पूर्ण बहुत से पद कवि-सम्राट ने स्वतन्त्र भी बनाये है। उनकी देखा-देखी कुछ और बङ्गीय कवियो ने इस प्रकार की कविता मे हाथ डाला और धीरे-धीरे यह नशा अब बहुत से हिन्दी के नवयुवक कवियो के सिर पर सवार होगया है। यहॉ पर हम पहले यह कह देना उचित समझते है कि छायावाद की कविता को हेय सिद्ध करने की आकांक्षा से हम यह नही कह रहे है। हम भी बहुतो की भॉति टगोर की छायावादी कविता पर मुग्ध होते है, पर इसलिये कि इससे हृदय मे एक अलौकिक आनन्द का सञ्चार होता है। परन्तु उनका अनुकरण करनेवाले विशेषत' उनकी कविता के वाह्य रूप पर जाते है और विचार-गांभीर्य की ओर नही देखते। फल यह होता है कि हमारे जैसे औसत दर्जे की बुद्धि रखनेवाले लाख कोशिश करने पर भी कोई मतलब नही निकाल पाते। कविता प्रायः अर्थशून्य सी जॅचने लगती है। इसको

यदि ध्वनि-काव्य या व्यङ्ग-काव्य भी मान ले, तो भी कुछ व्यङ्गार्थ तो निकलना चाहिये ही। पर यहाँ घंटो सिर मारे, तो भी कोई मानी नहीं निकलता। कविता का महत्व इसी मे नही है कि कोई उसे समझ ही न पाये।

आजकल की कविता मे दो बाते संस्कृत की अवश्य है। वह है संस्कृत के शब्दो का अधिकाधिक प्रयोग और संस्कृत के अच्छे-अच्छे वृत्तो का सहारा लेना। आधुनिक खड़ी बोली के कवियो को संस्कृत के छन्द और तत्सम शब्द बड़े उपयोगी जँचने लगे है। यह बात यहाँ तक बढ़ गई है कि यदि क्रिया या कारक के चिन्ह हटा लिये जॉय तो बिलकुल संस्कृत की ही कविता मालूम हो। इससे यदि कोई बात प्रकट होती है तो वह भाषा की दुर्बलता है। स्मरण रहे कि संस्कृत और हिन्दी दो विभिन्न भाषाएँ है। दोनो के विषय एक हो तब तक कुछ हर्ज नही पर भाषा एक न हो जानी चाहिए।

—गणेशप्रसाद द्विवेदी

भारत में समाचार-पत्रों का विकास

और

हिन्दी-अख़बारनवीसी पर एक दृष्टि

भारत मे समाचार-पत्रो के सम्पादन का आरम्भ इङ्गलैण्ड के समाचार-पत्रो के आधार पर हुआ है। दोनो देशो के समाचार-पत्रो मे विशेप समानता भी है। जिस प्रकार इङ्गलैण्ड के समाचार-पत्रो द्वारा राजनीतिक लोकमत तैयार किया जाता है, उसी प्रकार भारत मे भी समाचार-पत्रो द्वारा लोकमत तैयार किया जाता है। दोनो ही देशो के पत्रो के सम्पादकगण अपनी राय को प्रकट करने मे जेल और जुर्माने के परवाह की अपेक्षा

अपने कर्त्तव्य का पालन करने की तरफ अधिक सचेष्ट रहते है। यद्यपि यह सच है कि भारत मे एक भी ऐसा दैनिक, साप्ताहिक अथवा मासिक-पत्र नहीं है, जिसकी ग्राहक-संख्या लण्डन के बड़े अथवा प्रान्तीय समाचार-पत्रो से अधिक हो. तथापि वर्तमान शासन के वातावरण मे भी भारतीय समाचार-पत्र जनता पर बेहद प्रभाव डालते है।

भारत मे समाचार-पत्रो का उद्भव, उनका विकास और सम्पादनकला की वृद्धि एव व्यवसाय की उन्नति का वास्तविक आरम्भ सन् १८८५ मे भारतीय राष्ट्रीय महासभा के जन्म से होता है। यद्यपि भारत मे युगान्तर करनेवाली उस घटना से पहले भी भारत मे समाचारपत्र थे, किन्तु समाचार-पत्रो द्वारा राजनीतिक शिक्षा तथा प्रचार-कार्य्य का आरम्भ सन् १८८५ से ही होता है। इस समय से पहले भारत मे उन्हीं समाचार-पत्रो का विशेष आदर था, जो अंग्रेजो की सम्पत्ति थे और जिनका सम्पादन भी अंग्रेजो ही के द्वारा होता था। ये समाचार-पत्र ब्रिटिशराज का गुणानुवाद गाते थे और गवर्नमेट के विचारो का सदा समर्थन करते थे। दो-एक जो देशी समाचार-पत्र थे, वे भी इन्ही अंग्रेजी समाचार-पत्रों का अनुकरण करते थे। किन्तु राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय समाचार-पत्रो को एक अकृत्रिम महत्व मिला। उनके रुख मे जो परिवर्तन हुआ, उससे

सरकार के समर्थक अंग्रेजी समाचार-पत्रों को भी अपना रुख बदलने के लिए लाचार होना पड़ा।

सन् १८८५ के पहले भारत के अधिकांश समाचार-पत्रों मे इङ्गलैण्ड की राजनीति, आयर्लैण्ड की समस्या और उत्तरी पश्चिमी सीमान्त पर रूसी हमलों के खतरे पर ही विचार किया जाता था। भारतीय प्रश्नो और देश की अवस्थाओं का उनमें जिक्र भी न होता था। यदि होता भी था, तो उनको कोई महत्व न दिया जाता था। किन्तु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य्यवाहियो ने, ब्रिटिश और भारतीय प्रश्नों पर, नये दृष्टि-कोण से विचार करने के लिए, भारत के समाचार-पत्रों को, पर्य्याप्त मसाला दे दिया। इसी मसाले से परिपुष्ट होते हुए, गत ४० वर्षों से, भारत के समाचार-पत्र फलते-फूलते हुए विकास की वर्तमान अवस्था तक पहुँचे हैं।

भारत में सम्पादन-कार्य्य की आरम्भिक अवस्था में बम्बई में टाइम्स-आफ-इण्डिया का विशेष मान था। आज की तरह उस समय भी "टाइम्स" भारत के ऐंग्लो-इण्डियन समाचार-पत्रों का मुखिया था। यह समाचार-पत्र आरम्भ से ही भारतीयों की राजनीतिक आकांक्षाओं का विरोधी रहा है। इसके सम्पादकगण भी समय-समय पर भारत मे अंग्रेजी हितो के प्रतिनिधि ही रहे हैं। भारतीय आकांक्षाओं का विरोध करते हुए भी यह पत्र भारतीयो के भावो को ऐसी उत्तमता से प्रकट

करता था कि इस पत्र मे प्रकाशित नोट रायटर-द्वारा इङ्गलैण्ड भेजे जाते थे और वहाँ के 'टाइम्स' तथा अन्य लोकमान्य पत्रो मे प्रकाशित होते थे। उन्ही दिनो बम्बई मे 'बाम्बेगज़ट' नामक एक दूसरा पत्र भी निकलता था। यह पत्र आयरिश होमरूल का पक्षपाती था और इसी साधारण बात पर, जिससे भारत का कोई सरोकार न था, इस पत्र और "टाइम्स" मे खटपट रहा करती थी। दोनो एक-दूसरे के प्रचण्ड विरोधी थे। "बाम्बेगज़ट" का मालिक ग्रेटन जियरी नामक एक आयरिश था। हृदय से वह एक होमरूलर था। यही कारण था कि उन दिनो का योरपियन समाज उसे घृणा की दृष्टि से देखता था।

उन दिनो बम्बई मे एक भी देशी अंग्रेज़ी दैनिक न था। "इण्डियन स्पेक्टेटर" नामक एक अंग्रेज़ी साप्ताहिक ज़रूर था जिसमे भारतीय जनता और भारतीय प्रश्नो पर अधिक ध्यान दिया जाता था। स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध मे इस पत्र के विचारो का भारतीयो मे विशेष मान था, किन्तु सार्वजनिक नीति के सम्बन्ध में इस पत्र का कोई विशेष महत्व न था। 'सार्वजनिक नीति' तो एक प्रकार से 'टाइम्स' और 'बाम्बेगज़ट' की सम्पत्ति हो चुकी थी। यह दशा तब तक रही, जब तक कि 'बम्बई समाचार' और 'जाम-ए-जमशेद' नामक दो गुजराती दैनिको का प्रकाशन बम्बई मे नहीं हुआ। इन देशी पत्रो के आक्रमणो का अंग्रेज़ी दैनिको के एकाधिकार पर विशेष आघात पहुँचा और

लाचार होकर उनको गुजराती से अंग्रेज़ी मे अनुवाद करने के लिए दो पार्सी रिपोर्टरो को भी रखना पडा।

मद्रास और कलकत्ता मे अंग्रेजी भाषा के देशी समाचार-पत्रो का आरम्भ अन्य स्थानो की अपेक्षा बहुत पहले हो चुका था। हमने ऊपर जिस समय की अवस्था का उल्लेख किया है, उस समय 'हिन्दू-पेट्रियट', 'इण्डियन मिरर' 'बगाली' और 'हिन्दू' सरीखे देशी अंग्रेजी पत्रो का भारत मे अच्छा मान था। ये समाचार-पत्र सरकार तथा उसके समर्थकों की कडी आलोचना करते थे। किन्तु अभी यह विषयान्तर की बात है।

४० वर्ष पहले 'टाइम्स-आव-इण्डिया' के साहित्यिक विभाग मे एक सम्पादक, दो सहकारी सम्पादक और एक चीफ रिपोर्टर थे। ये सभी इङ्गलैण्ड से बुलाये गये थे। इनके अतिरिक्त ४ स्थानीय रिपोर्टर थे, जिनमे दो पार्सी थे। 'बाम्बे-गजट' का भी प्रबन्ध इसी प्रकार था।

उन दिनो बम्बई मे 'बम्बई-कारपोरेशन' ही एक ऐसी लोक-सस्था थी, जिसकी कार्य्यवाहियो को लोग चाव से पढ़ते थे। दोनो अंग्रेज़ी दैनिको मे कारपोरेशन की विस्तृत कार्य्यवाही छपती थी और इस कार्य्य के लिए विशेष योग्य रिपोर्टर नियुक्त किये जाते थे। उन दिनो खबरें पढ़ने के लिए लोग आज की तरह उत्सुक न रहा करते थे और खबरो के छपने मे २४ घण्टे की देरी पर लोग कुछ भी ध्यान न देते थे। समाचार-पत्रो मे सार्वजनिक

सभाओ की रिपोर्टों और हाईकोर्ट के केसो को पर्य्याप्त स्थान दिया जाता था। उस समय 'एसोसिएटेड प्रेस' जैसी सस्था का किसी को गुमान भी न था। इसीलिए विशेष संवाददाताओ के लिए कार्य्यक्षेत्र बहुत ही विस्तृत था।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आन्दोलनो का प्रथम फल १८९२ के इण्डियन-कौन्सिल्स-ऐक्ट के रूप मे प्रकट हुआ। इस कानून के अनुसार कुछ लोक-सस्थाओ को निर्वाचन का अधिकार दिया गया। इसी के अनुसार सुप्रीम और प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओ के सदस्यो को शासन के सम्बन्ध मे सरकार से प्रश्न करने तथा सालाना बजट पर विचार करने का भी अधिकार दिया गया। इस क़ानून के १५ वर्ष बाद भारत को मिन्टो-मार्ले सुधार-स्कीम मिली। इन सुधारो के परिणाम-स्वरूप जिन व्यवस्थापिका-सभाओ की स्थापना हुई, उनमे किये गये वादविवाद तथा प्रश्नोत्तरो से भारत के समाचार-पत्रो को नयी उत्तेजना मिली। देश के प्रमुख पत्रो की पृष्ठ-संख्या मे वृद्धि होने के साथ ही उनके मूल्य मे भी वृद्धि हुई। इसी समय से समाचार-पत्रो के कार्य्यालय मे प्रबन्धक के युग का भी आरम्भ हुआ। १९ वी शताब्दि के अन्तिम वर्षों तक समाचार-पत्रो के विषय मे सम्पादक ही सर्वे-सर्वा था। किन्तु अब अवस्था बदल गई और उस समय से आजतक दिनोंदिन सम्पादक की अपेक्षा प्रबन्धक के महत्व मे वृद्धि ही होती गई। वर्तमान समय मे भारतीय

समाचार-पत्रो के कार्य्यालय के दो मुख्य विभाग होते है। एक का मालिक होता है सम्पादक और दूसरे का मैनेजर। पत्र की आर्थिक अवस्था का निरीक्षण और प्रबन्ध मैनेजर ही करता है। विज्ञापन-दाताओ का उससे सीधा सम्बन्ध रहता है। अतएव लोग भी सम्पादक की अपेक्षा उसे ही अधिक जानते है। सम्पादक को भी रुपये-पैसे के मामले मे मैनेजर का ही मुख तकना पड़ता है।

१९ वी शताब्दि के अन्तिम वर्षो मे बम्बई की अपेक्षा कलकत्ते मे अंग्रेजी समाचार-पत्रो की संख्या भी अधिक थी और उनका सम्मान भी अच्छा होता था। उन दिनों 'इङ्गलिशमैन' ऐंग्लो-इण्डियन पत्रो का मुखिया था और बंगाल मे इसी पत्र का सर्कुलेशन सबसे अधिक था। इसकी प्रतिद्वन्दिता 'स्टेट्स्मैन' से चलती थी। सन् १९०६ तक स्टेटस्मैन भारतीय आकांक्षाओ और हितो का ज़बरदस्त समर्थक रहा है। उन दिनो इस पत्र के सम्पादक मि० एस० के० रैटक्लिफ बड़े ही योग्य अखबार-नवीस थे। उनकी लेखनी मे वह शक्ति थी कि उनके विरोधी भी उनके लेखो को पढ़कर लाभ उठाते थे। १९०६ मे मि० रैटक्लिफ इङ्गलैण्ड चले गये और तब से इस पत्र का सम्पादन-भार मि० जे० ए० जोन्स नामक एक अंग्रेज के हाथ मे है जो 'पक्के ऐंग्लो-इण्डियन' होते हुए भी बड़े योग्य व्यक्ति है। आप ही के अनवरत परिश्रम और योग्यता के परिणाम-स्वरूप आज स्टेट्स्मैन

भारत का प्रमुख दैनिक बना है। 'स्टेट्समैन' की ग्राहक-संख्या में वृद्धि का श्रेय स्टेट्समैन-कार्य्यालय के योग्य मैनेजर एच० ई० वाटसन को भी है। आप ही के प्रयत्न से लण्डन के दैनिकों के समान 'स्टेट्समैन' में भी एक पृष्ठ चित्रमय दिया जाने लगा है। आजकल 'स्टेट्समैन' भारत में एक मूल्यवान सम्पत्ति हो गया है। इसके संस्थापकों के ही अनुमान के अनुसार इसकी बाजारू कीमत एक करोड़ रुपये है। यह बढ़ी-चढ़ी बातें भी कही जा सकती हैं, किन्तु यदि स्टेट्समैन की सम्पत्ति एक करोड़ की आधी भी हो, तब भी भारत में, जहाँ समाचार-पत्रों को जाब-वर्क में बहुत कम सहायता मिलती है, एक समाचार-पत्र के लिए इतनी बड़ी सम्पत्ति खड़ी कर लेना प्रशंसा की बात है। 'टाइम्स-आव-इण्डिया' और 'पायोनियर' के जाब-प्रेसों को पर्य्याप्त बाहरी आमदनी भी होती है। यदि स्टेटस्मैन, जैसा कि इसके संस्थापकों का विचार था, सदा भारत-हितैषी बना रहता, तो यह निश्चय है कि वह आज की तरह उन्नति के इस ऊँचे शिखर पर कभी न पहुँचता। यह कटु सत्य इस बात को घोषित करता है कि भारत का विद्वत्समाज उस समाचार-पत्र को भी काफ़ी सहायता नहीं दे सकता, जो भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का समर्थक होता है।

स्टेट्समैन के ही आकार और महत्व का मद्रास से 'हिन्दू' निकलता है। मद्रास प्रान्त में इस पत्र की ग्राहक-संख्या सबसे अधिक है। ऐंग्लो-इण्डियन पत्र 'मद्रास-मेल, इससे बहुत पिछड़ा है।

१८८७ मे कलकत्ते से "इण्डियन डेलीन्यूज" नामक एक अन्य ऐंग्लो-इण्डियन दैनिक भी निकलता था। इसमे व्यापार-सम्बन्धी समाचारो की प्रधानता रहती थी। यदि अवसर से लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाता, तो सभवत. आज इस पत्र की गणना कलकत्ते के प्रमुख पत्रो मे होती। यह पत्र पहले एवरार्ड डिगबी और बाद को मि० के० के० सेन के सम्पादकत्त्व मे चलता रहा। अन्त मे स्वर्गीय सी० आर० दास ने इस पत्र को खरीदकर प्रसिद्ध 'फारवर्ड' नामक समाचार-पत्र मे सम्मिलित करके स्वराज्य-पार्टी का प्रमुख पत्र बना दिया। आजकल इस पत्र की ग्राहक-संख्या भी अच्छी है। इसमे जरा भी सन्देह नही कि भारत के राष्ट्रीय अंग्रेजी दैनिको मे सबसे अच्छा सम्पादन 'फारवर्ड' का होता है। यही पत्र सर्वापेक्षा अधिक रोमैण्टिक और ऐडवेञ्चरस भी है। गुप्त खबरो को उड़ा लेने के कार्य्य मे भी इसके रिपोर्टर अत्यन्त पटु होते है।

कलकत्ते की ऐंग्लो-इण्डियन अखबार-नवीसी का एक महत्व-पूर्ण रूप वहाँ के साप्ताहिक समाचार-पत्र है। भारत के किसी अन्य शहर मे अंग्रेजी साप्ताहिको का इतना अधिक जोर नहीं है। कलकत्ते मे पहला अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र 'कैपिटल' १८८८ मे निकाला गया था। यह अर्थ और व्यापार-सम्बन्धी पत्र है। प्रायः इसी समय 'इण्डियन इञ्जीनियरिंग' नामक एक दूसरा पत्र भी निकाला गया था। विश्व-ख्याति प्राप्त करने के पहले स्वर्गीय

सर आशुतोष मुकर्जी इसी पत्र मे गणित-सम्बन्धी उन लेखो को लिखा करते थे, जिनको अमेरिकन तथा योरपियन विद्वान भी विशेष रुचि से पढ़कर लाभ उठाते थे।

भारतीय सम्पादन कार्य्य मे प्रगति की दूसरी सीढी का निर्माण बंग-भंग के समय मे हुआ था। इस घटना ने बंगाल मे खलबली मचा दी थी। बंग-भंग-आन्दोलन ने भारतीय महत्वाकांक्षा के आन्दोलन को एक ज़बरदस्त राष्ट्रीय रूप दे दिया। इस आन्दोलन को सफलता मिली, किन्तु इसके परिणाम-स्वरूप भारत की राजधानी कलकत्ते से हटाकर दिल्ली बना दी गई। प्राय. उन्ही दिनो भारत मे एसोसिएटेड प्रेस-आफ्-इण्डिया ने जन्म ग्रहण किया। सन् १९०३ मे कर्ज़न दरबार से पेश्तर कलकत्ते के तीन अग्रेज़ी दैनिक गवर्नमेट के हेडक्वार्टरो से ख़बरे उड़ाने के लिए विशेष सम्वाददाताओ को नियुक्त करते थे। उनका सबसे अधिक समय शिमला के हेडक्वार्टर मे बीतता था। उन दिनो सरकार की दृष्टि मे स्थानीय 'पायोनियर' का बड़ा सम्मान था। यह पत्र एक प्रकार से सरकारी संरक्षण मे चलता था। शिमले मे उन दिनों इसके विशेष सम्वाददाता हावर्ड हेन्समैन बड़े चतुर रिपोर्टर थे। उन पर सभी सीविल एवं मिलिटरी अधिकारियो की कृपा रहती थी और इसी से वे अनेक ऐसी महत्वपूर्ण और ज्ञातव्य खबरे पा लेने मे सफल होते थे, जो दूसरे पत्रो के सम्वाददाताओं को न मिलती थी।

ये खबरें 'पायोनियर' के प्रथम पृष्ठ पर छपती थीं। प्रकाशित होने के बाद सारे भारत में ये खबरें ब्राडकास्ट की जाती थीं। सरकारी हेडक्वार्टर्स की ख़बरों का यह एकाधिकार केवल पायोनियर को प्राप्त था। पायोनियर के इस एकाधिकार को हड़पने के उद्देश्य से ही कलकत्ते के दैनिकों ने अपने विशेष प्रतिनिधि को शिमला भेजने की आवश्यकता समझी थी। उन दिनों शिमला में "इङ्गलिशमैन" के मि० बक, "स्टेटस्मैन" के मि० कोट्स और "इण्डियन-डेली-न्यूज" के मि० डैलस विशेष सम्वाददाता थे। ये तीनों मिलकर मि० के० सी० राय नामक एक बङ्गाली की सहायता से सरकारी ख़बरों को पाते थे।

बक और कोट्स ही एसोसिएटेड प्रेस के प्रथम डाइरेक्टर हुए। मि० राय इनकी सहायता करते थे। भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरों में प्रेस की एजेन्सियों के कायम हो जाने के बाद मि० राय ने भी एसोसिएटेड प्रेस के डाइरेक्टर का पद प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की और इनकार किये जाने पर उन्होंने बक और कोट्स का साथ छोड़कर मि० यू० एन० सेन नामक एक चतुर व्यक्ति के साथ "प्रेस-ब्यूरो" नामक एक दूसरी संस्था क़ायम की। इस नयी संस्था की प्रतिद्वन्द्विता को एसोसिएटेड प्रेस बर्दाश्त न कर सका और लाचार होकर बक और कोट्स को मि० राय की शर्तों को मानकर उन्हें डाइरेक्टर बनाना पड़ा। आगे चलकर कोट्स के हिस्से को रायटर ने ख़रीद

लिया। अब यही सस्था भारत के सभी समाचार-पत्रों को खबरें वितरित करने के लिए प्रधान ज़रिया है। इस सस्था को सरकारी सरक्षण भी प्राप्त है। अभी हाल में 'फ्री प्रेस' नामक एक अन्य सस्था भी भारत में कायम हुई है। इसके सस्थापक कोई रिकमएड साहब है। अंग्रेज़ो के पत्रों की अपेक्षा भारत के राष्ट्रीय पत्रों से इस सस्था को अधिक सहायता मिलती है। यह सस्था जीवन-लाभ के लिए बहादुरी से विपरीत परिस्थितियों का सामना कर रही है। यदि सफलता मिली, तो आगे चलकर यह भी देश में एक चीज़ होगी। एसोसिएटेड प्रेस ने पायोनियर के एकाधिकार को नष्ट कर दिया है। साथ ही इस सस्था ने देशी तथा विदेशी खबरों का संग्रह करने के लिए अनेक मौलिक तरीकों को भी ईजाद किया है। भारत में एसोसिएटेड प्रेस और 'फ्री प्रेस' को छोड़कर खबरें वितरण करने की दूसरी कोई संस्था नही है। खबरों का प्रधान स्रोत 'रायटर' कम्पनी है। किन्तु प्रेस-टेलीग्रामों का मूल्य अब भी इतना अधिक है कि छोटे-मोटे दैनिक उससे लाभ नहीं उठा सकते। एसोसिएटेड प्रेस की दो सर्विसे देश में प्रचलित है। एक छोटी और दूसरी बड़ी। बड़ी सर्विस में खबरें विस्तृत विवरण में भेजी जाती है और छोटी सर्विस में बड़ी खबरों का सारांश मात्र रहता है। भारत के अधिकांश अंग्रेजी और देशी भाषा के समाचार-पत्र बड़ी सर्विस का मूल्य देने में असमर्थ

होने के कारण छोटी सर्विस को ही अधिक पसन्द करते है। यही कारण है कि पायोनियर, इङ्गलिशमैन, टाइम्स और स्टेट्समैन जैसे समाचार-पत्रो की प्रतियोगिता मे वे टिक नहीं सकते। उनके सम्पादको को पत्र मे ख़बरें छापने के लिए कैंची की सहायता लेनी पड़ती है। 'लीडर' सरीखे देशी समाचार-पत्रो का सम्पादन इसी प्रकार होता है। तब भी देश मे ऐसे पत्रो की भी उपयोगिता है। ऐसे पत्र राजनीतिक दलो के समर्थक होते है। यही उनकी उपयोगिता का प्रधान सबूत है।

भारत के देशी भाषा के समाचार-पत्र अंग्रेजी समाचार-पत्रो की छाया मात्र है। अंग्रेजी समाचार-पत्रो की अपेक्षा इन समाचार-पत्रो के निकालने मे अधिक परिश्रम और खर्च पड़ता है। तारो द्वारा खबरे अंग्रेजी मे भेजी जाती है। समाचार-पत्र के आफिस मे खबरो के पहुँचते ही अंग्रेजी पत्रो के रिपोर्टर उनमे कामा, फुलस्टाप और हेडिङ्ग लगाकर कम्पाजिङ्ग के लिए भेज देते है। किन्तु देशी भाषा के समाचार-पत्रो के रिपोर्टरो को उनका अनुवाद करने की दिक़्क़त उठानी पडती है। कामा फुलस्टाप लगाने की अपेक्षा अनुवाद-कार्य अधिक कठिन होता है। कार्य्य को जल्दी समाप्त करने के लिए अंग्रेजी पत्रो के स्टाफ की अपेक्षा देशी भाषा के पत्रो मे अधिक स्टाफ की भी जरूरत पड़ती है। अनेक खबरे ऐसी होती है, जिनका ठीक अनुवाद भी नहीं हो सकता, अतएव वे छोड़ दी जाती है। नतीजा यह

होता है कि उनमे एक अंग्रेजी दैनिक की अपेक्षा कम खबरें रहती है। देशी भाषा के दैनिक पर जितना खर्च पड़ता है, उसकी अपेक्षा आय बहुत कम होती है और निरन्तर हानि उठाते हुए किसी भी कार्य्य को चलाना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि भारत मे हिन्दी भाषा इतनी व्यापक होने पर भी उसके दैनिको की संख्या उँगलियो पर गिनी जा सकती है। साप्ताहिक पत्रो के निकालने मे कम दिक्कत पड़ती है और कोई विशेष व्यय भी नही करना पडता। खबरें सब अंग्रेज़ी पत्रो से प्राप्त हो जाती है। इसीलिए भारत मे देशी भाषा के पत्रो मे साप्ताहिको की सख्या अधिक है। देशी भाषा के पत्रो की प्रधान उपयोगिता उनके प्रचार-कार्य्य मे है। गाँवो तथा ऐसे शहरों मे, जहाँ अंग्रेज़ी शिक्षा अधिक व्यापक नही है, देशी भाषाओ के पत्रो की अधिक बिक्री होती है। हिन्दी की अपेक्षा बँगला के समाचार-पत्रों का सम्पादन अधिक अच्छा होता है। इसका प्रधान कारण यह है कि बंगाली समाज अधिक शिक्षित है और भाषा-साहित्य का अधिक आदर करता है। उस भाषा मे "बँगलार कथा" जैसे पत्रो का सम्पादन तो बिल्कुल अंग्रेज़ी पत्रो के आदर्श पर होता है। "बंगलार कथा" का सम्पादन 'फारवर्ड' प्रेस से होता है। अतएव खबरें प्राप्त करने के लिए इस पत्र को अतिरिक्त व्यय नही करना पड़ता, फारवर्ड ही के व्यय से इसका भी काम चलता है।

हिन्दी-पत्रो मे 'आज' 'वर्तमान' 'स्वतंत्र' 'विश्वमित्र' और "भारतमित्र" अच्छे दैनिक हैं। इन सब पत्रो मे कुछ वर्षों पहले "भारतमित्र" का सम्पादन बहुत ही उत्तम ढंग से होता था। अब यह पत्र अपने आदर्श से नीचे गिर गया है और इस पत्र का सम्पादन कलम की अपेक्षा शायद क़ैंची की सहायता से अधिक होता है। खबरो के संग्रह करने मे इन सभी पत्रो की अपेक्षा 'स्वतंत्र' शायद अधिक व्यय करता है। इसके कार्य्यालय में 'फ्री प्रेस' तथा 'एसोसिएटेड प्रेस' से सीधे तार मँगाये जाते हैं। युक्तप्रान्त मे 'आज' और 'वर्तमान' का अच्छा आदर है। ये पत्र घाटे पर नही चलते। यही इनकी खासियत है। किन्तु इनका सम्पादन, सम्पादकीय अग्रलेख और टिप्पणियो को छोड़कर, बहुत ही बुरा होता है। 'आज' तो 'लीडर' का अनुवाद माना जाता है। आरम्भ मे 'आज' भी एसोसिएटेड प्रेस और रूटर से सीधे तार मँगाता था, किन्तु व्यय बर्दाश्त न कर सकने पर लाचार होकर उसे 'लीडर' की खबरो के अनुवाद-मात्र से ही सन्तोष करना पड़ा। यह सब होते हुए भी यह पत्र बहुत ही अच्छा और माननीय है। ख़बरो के लिए 'वर्तमान को भी अंग्रेज़ी समाचार-पत्रो का मुख देखना पड़ता है। बनारस और कानपुर मे कोई अंग्रेज़ी दैनिक नही है, इसी लिए उक्त दोनो शहरो में इन दैनिकों की काफी बिक्री हो जाती है। प्रयाग मे एक अच्छे दैनिक के निकलने की काफी गुंजाइश

है और 'लीडर' अथवा 'पायोनियर' के संरक्षण मे एक उत्कृष्ट हिन्दी दैनिक निकाला जा सकता है।

हिन्दी की अपेक्षा उर्दू दैनिको तथा साप्ताहिको की दशा अधिक अच्छी है। लीथो के कारण उनकी छपाई का कार्य्य जल्दी और कम व्यय पर होता है।

हिन्दी के दैनिको की अपेक्षा साप्ताहिको का सम्पादन अधिक अच्छा होता है, क्योकि साप्ताहिक मे धीरे-धीरे काम करने का पर्य्याप्त समय मिल जाता है। सब बातो पर विचार करके कहना पड़ता है कि भारत मे देशी भाषा के पत्रो का भविष्य अच्छा नही है। जब तक डाक और भारत-सरकार की कार्य्यवाहियो की भाषा का माध्यम अंग्रेजी भाषा रहेगी, और जब तक देश के सभी कार्य्यों मे अंग्रेज़ी की प्रधानता रहेगी, तब तक देशी भाषा के अखबारो की अपेक्षा अंग्रेज़ी भाषा के अखबारो को विशेष सुविधाएँ प्राप्त होती रहेगी और उनकी प्रतिद्वन्द्विता में देशी भाषा के अख़बार टिक न सकेगे। देशी भाषा के समाचार-पत्र न तो अंग्रेज़ी समाचार-पत्रो की तरह न एडवेञ्चरस ही हो सकते है और न रोमैण्टिक ही। किन्तु अंग्रेज़ी भाषा के पत्रो का भविष्य अच्छा है। भारत को स्वराज्य मिल जाने पर भी देश मे अंग्रेज़ी भाषा की प्रधानता रहेगी और उस समय भारतीय जनता अंग्रेज़ी राष्ट्रीय समाचार-पत्रो का अधिक कदर करेगी।

इधर हाल मे अंग्रेजी समाचार-पत्रो ने चित्रो के प्रकाशित करने का एक नया रूप धारण किया है। चित्रों की माँग की पूर्त्ति के लिए 'एसोसिएटेड प्रेस' और 'फ्री प्रेस' के आधार पर कई फोटो-एजेन्सियाँ भी भारत मे कायम हो रही हैं। कलकत्ता और बम्बई मे कई विदेशी फोटो एजेन्सियाँ है, जो विदेशी घटनाओ के फोटो समाचार-पत्रो मे वितरित करती हैं। अख़बार-नवीसी का नया रूप सभी स्टेटस्मैन, पायोनियर, ट्रिब्यून, हिन्दुस्तान-टाइम्स, हिन्दू तथा कुछ अन्य प्रसिद्ध अंग्रेज़ी पत्रो तक ही परिमित है। हिन्दी मे भी चित्र छापने की प्रथा के अनुकरण का श्रीगणेश हो गया है। परन्तु इस विषय मे भी खर्च से बचने के लिए एक तरीका ग्रहण किया गया है। यहाँ भी अखबार-नवीसी के प्रधान शस्त्र कैंची की अनवरुद्ध गति है। अखबारो में प्रकाशित ज़रूरी चित्र कैंची से काटकर तथा उनमे कुछ परिवर्तन करके ब्लाक बनवा लिये जाते है और उन ब्लाको का प्रयोग अख़बारो मे किया जाता है। किन्तु हिन्दी-अखबार-नसीवी की ऐसी दयनीय दशा के होते हुए भी उनके अन्त होने का कोई भय नहीं, क्योकि हर तीसरे वर्ष चुनावो के ज़माने मे उनके बिना काम चलना कठिन हो जाता है। ऐसे अचूक अवसरों समाचार-पत्र पर्य्याप्त लाभ भी उठा लेते है।

—रामधर दुबे

हिन्दी-साहित्य में सामाजिक इतिहास

[१]

बृहदारण्यकोपनिषद् में एक स्थान पर जनक और याज्ञवल्क्य का परस्पर संवाद है। उसमे वाक् किम्वा वाणी की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। जनक पूछते हैं—

का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य

अर्थात्, प्रज्ञता क्या है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—

वागेव सम्राडिति हो वाच। वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो युजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं

हुत माशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणिच भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते ।

अर्थात्, हे सम्राट् ! वाक् ही प्रज्ञता है; वाक् ही से बन्धु का ज्ञान होता है; वाक् ही से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान व याग, होम, अन्नदानादि निमित्त होनेवाले समस्त धर्म इहलोक तथा परलोक जाने जाते है। वाणीद्वारा प्रकट इसी ज्ञान-समुच्चय का नाम वाङ्मय है। मराठी भाषा मे साहित्य के अर्थ मे प्रायः वाङ्मय शब्द ही का प्रयोग होता है। अतएव वाङ्मय किम्वा साहित्य में न केवल परमार्थ तत्वों का विवेचन होता है, वस्तुतः लौकिक एवम् व्यावहारिक ज्ञान भी साहित्य की सीमा के अन्तर्गत है। साहित्य का यह व्यापक अर्थ है। योरपीय विद्वानो ने भी सभ्यता और उसके साथ बौद्धिक विकास के ज्ञान के साधनो मे साहित्य को प्रमुख स्थान दिया है।

साहित्य की विशद व्याख्या करने की तो आवश्यकता नही, परन्तु यह बताने की ज़रूरत तो है कि काव्य तथा गद्य-लेखन-कला के रूपों और नियमो पर प्रकट किये गये विचारो ही का नाम साहित्य नही है। न यही कहा जा सकता है कि काव्य के समस्त लक्षणो से सयुक्त विचार किसी भाषा के साहित्य को सम्पूर्ण बना देते है। इमर्सन ने साहित्य की व्याख्या करते हुए

लिखा है कि वह सर्वोत्तम विचारो का संग्रह है, दूसरी ओर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ज्ञानराशि के सञ्चित कोष ही का नाम साहित्य है। इमर्सन से द्विवेदीजी की व्याख्या कही व्यापक है। एक सर्वोत्तम विचारो ही को साहित्य मानता है, तो दूसरा सम्पूर्ण ज्ञानराशि को साहित्य का रूप देता है। साहित्य का उद्देश्य निश्चय ही सर्वोत्तम है, परन्तु साहित्य के निर्माता उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम विचार सदैव ही प्रकट नही किया करते। यदि साहित्य मनुष्य के विचार-समूह का नाम है, तो वह मनुष्य-समाज का प्रतिविम्व भी होना चाहिए। यदि नौ सौ वर्ष के हिन्दी-साहित्य मे हम केवल अलङ्कार और रस ही देखते रहे, यदि उसके काव्य मे हम राधा-कृष्ण किम्वा नायक-नायिकाओ का अभिसार-विहार ही पाते रहे और यदि उसमे हमे केवल कला के नियमो का दिग्दर्शन ही मिलता रहे, तो कहना पड़ेगा कि इस साहित्य मे जीवन नही है। किन्तु देखा जाता है कि जो साहित्य के ज्ञाता और मर्मज्ञ होते है, वे ही साहित्य की वास्तविकता से वञ्चित रहते है। ग्रामीण जनता से जाकर पूछिए कि तुलसी, सूर और कवीर के काव्यो को सुनकर उन्हे क्या प्रतीत होता है। मेरी धारणा है कि आप उनके हृदय मे कवीर का वैराग्य पायेंगे, तुलसी और सूर के राम और कृष्ण की प्रतिष्ठा पायेंगे। सच पूछिए तो साहित्य का निर्माण इसीलिए होता है। जेठ की दोपहरी मे खेत जोतते

हुए स्वेद-प्रपूरित किसानो के 'कहै कबीर सुनो भइ साधो' या 'तुलसीदास भजो भगवाना' के आलाप मे आप साहित्य की जो छटा पायेंगे वह इस कमरे मे नही, जहाँ कविता और कला की परिभाषा की जाती है, जहाँ अलङ्कार और रस पर विवाद किया जाता है ।

मुझ पर यह दोष लगाया जा सकता है कि इस दशा मे मै साहित्य को केवल उपयोगितावाद की दृष्टि से देखता हूँ । साहित्य तो बहुत व्यापक अर्थ रखता है, परन्तु मै तो साहित्य की एक शाखा—काव्य को भी इसी दृष्टि से देखता हूँ । कला की दृष्टि से काव्य का अध्ययन इने-गिने लोगो को आनन्द देनेवाला भले ही हो और उसके ज्ञान से परीक्षार्थियो का लाभ भले ही हो, परन्तु उससे सर्वसाधारण का क्या हित हो सकता है ? गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

कीरति, भषित, भूति भलि सोई । सुरसरि सम सबकर हित होई ।

तुलसीदासजी की भाषा कैसी थी, उन्होने किन छन्दो का प्रयोग किया है, उनकी कविता मे रसो का परिपाक कैसा हुआ है, आदि बाते सर्वसाधारण के समझने की नही है, परन्तु यह कोई नही कह सकता कि उन्होने जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह सर्वसाधारण के लिए नही है । यदि ऐसा होता तो आज भारतवर्ष मे राम और कृष्ण के गीत घर-घर न गाये जाते, जैसा कि महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोष के

विद्वान सम्पादक डा० केतकरने लिखा है—'जनता की मनोवृत्ति और काव्योत्पादन का परस्पर निकट सम्बन्ध है। काव्य की परीक्षा जनता अपनी मनोवृत्ति ही के अनुसार करेगी। अत. जनसमाज की मनोवृत्ति ही काव्य की मर्यादा निश्चित् करती है।' जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटी ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—' If you would understand an author, you must understand his age The same thing is just as true of a book If you would fully comprehend it, you must know the age There is an order, there are causes and relations between great compositions and the societies in which they have emerged ' दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि साहित्य और समाज का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। साहित्य के रूप मे हम समाज का दर्शन कर सकते है। यही कारण है कि साहित्य को देश का प्राण कहा जाता है। साहित्य के अध्ययन की एक दृष्टि यह भी होनी चाहिए कि उसमे उस देश का सामाजिक इतिहास कहाँ तक और किस प्रकार अङ्कित किया गया है।

[२]

नौ सौ वर्ष से भी अधिक समय बीत चुका। उत्तरी भारत ने अनेक राज्यक्रान्तियाँ देखी, बीसियो राज्यवंशो का संहार देखा। हिन्दी-साहित्य अवश्य ही इस इतिहास का साक्षी है। हिन्दू-

साम्राज्य के पतनकाल मे जिसका शैशव व्यतीत हुआ, मुगल-साम्राज्य के उत्कर्ष के साथ ही उसके यौवन का विकास हुआ। किन्तु जिस साहित्य ने अपने शैशवकाल मे वीरगाथाओं की लोरियाँ सुनी थी, वही दैव-दुर्विपाक से मुग़लो के विलास-वैभव के युग मे शृंगारी नायिकाओ के रस मे ऐसा डूबा कि हवाई जहाज़ो और गोलो का भय भी उसे सचेत नही कर सका है। फिर इसी बीच मे सत-महात्माओ ने उसे वैराग्य की ओर घसीटा, तो दूसरी ओर भक्तो ने अपने रङ्ग मे उसे रँगना चाहा। जिसके शैशव का अन्त और यौवन का आरम्भ हो, उसे भक्ति और वैराग्य की बाते कैसे सुहा सकती है? इस धार्मिक भावना के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप ही मे मानो हिन्दी-साहित्य का यौवन शृंगार की गोद मे जा सोया और ऐसा सोया कि जाग्रति की भैरवी भी आज हार मानकर कह रही है—

'बिनती इती है कै हमेस हू मुहै तो निज,
पायँन की पूरी परिचारिका गने रहो।
या ही मे मगन मन-मोहन! हमारो मन,
लगन लगाइ लग-मगन बने रहो।।'

इसी हिन्दी-साहित्य मे हम अपने समाज का रूप देखना चाहते है। इस कार्य मे कठिनाइयाँ है। हिन्दीभाषा सम्पूर्ण भारत की भाषा नही है, किन्तु इस भाषा के बोलनेवाले हिन्दू समग्र भारत मे फैले है। हिन्दू जाति पर संस्कृत-साहित्य की सस्कृति का

अभाव है, अतः हिन्दी-साहित्य मे सामाजिक इतिहास की खोजना किसी नवीनता का परिचायक नही । फिर गुजराती, मराठी और बंगला आदि भाषाओं का भी तो साहित्य है । उन प्रान्तो की सामाजिक व्यवस्था संस्कृत मे हिन्दी-भाषा-भाषियों से विभिन्न नही है। इस दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य मे समाज के इतिहास का कोई महत्व नही। ये आपत्तियाँ ठीक है । मूलरूप मे समग्र हिन्दू जाति, चाहे उसके अन्तर्गत कितने ही भिन्न भाषा-भाषी हो, एक ही संस्कृति धारण करती है, किन्तु यदि एक ही समाज के दो व्यक्तियों मे विचार-भेद हो सकता है, तो कोई कारण नही कि एक ही जाति के भिन्न भाषावाले साहित्यो मे अन्तर न पाया जाय। रवीन्द्र की 'चित्रा' मे प्रेम और कर्तव्य का जो चित्रण है, गुजरात के महाकवि नान्हालाल के 'जया और जयन्त' मे वह एकदम भिन्न है । तत्व एक है, परन्तु साधन भिन्न है । बङ्किम के 'आनन्द मठ' मे जिस समाज की स्थापना की गई है, तत्कालीन अन्य प्रान्तीय साहित्यो मे और किसी के मस्तिष्क की ऐसी उपज थी, यह नही कहा जा सकता। तुलसीदास का समाज एक आदर्श की भित्ति पर खडा है, तो महाराष्ट्र के राष्ट्रीय सन्त रामदास अपनी समाज-व्यवस्था मे दूसरा ही ढंग खोजते है । इस पर यह कहा जा सकता है कि जब वस्तुतः हिन्दू जाति की समाज-व्यवस्था एक ही-सी है, तो साहित्य के रूप मे विद्वानो द्वारा प्रदर्शित आदर्श समाजो को ऐतिहासिक कहना भूल है । अवश्य ही इति-

हास शब्द का मै वास्तविक घटनाओं के उल्लेख में प्रयोग नहीं कर रहा हूँ। सम्भव है कि मै यहाँ समाज-सम्बन्धी जिन बातो का उल्लेख करूँ वे वास्तविकता से परे न हो, परन्तु मेरा लक्ष्य केवल इतना है कि समाज-विज्ञान के सिद्धान्तो के आधार पर मै यह दिखा सकूँ कि हिन्दी-साहित्य मे इस सम्बन्ध मे क्या और किस प्रकार कहा गया है। इसी से इतिहास शब्द को मैंने विचारो के इतिहास के रूप मे प्रयुक्त किया है।

[३]

समाज के मूल मे व्यक्ति का निवास है। व्यक्ति ही से समाज बनता है। मनुष्य-शरीर की नश्वरता स्वीकार करते हुए भी हमने 'नरतन' का महत्व समझा है—

बड़े भाग मानुषतन पावा। सुरदुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

× × ×

कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेत सनेही॥

—तुलसीदास

× × ×

लख चौरासी जोनि मे, मानुष जन्म अनूप।

—कबीर

अर्थवाद के इस युग मे, विज्ञान व उसके सहयोगी यन्त्र-निर्माण की इस धूम मे, मनुष्य की परिभाषा योरप मे एक औज़ार चलानेवाले प्राणी के अर्थ मे की गई है और हमारे यहाँ आयु-

वेद-शास्त्रियो ने यद्यपि मनुष्य की बनावट की ओर पूरा ध्यान दिया है, फिर भी उसे भौतिक दृष्टि से 'हाड़-मांस का पूतरा' के अतिरिक्त और अधिक महत्व नही दिया गया है। तथापि हमारे समाज मे मनुष्य को औज़ार चलानेवाला प्राणी नही कहा है। उन्होने मनुष्य-शरीर को इस प्रकार आर्थिक विकास का साधन न बनाकर पारमार्थिक साधन ही का हेतु माना है। समाज के मूल हेतु मनुष्य के चरित्र-विकास मे, भारतीय और योरपीय संस्कृति मे, यह महान् अन्तर है। हिन्दी-साहित्य मे इस भारतीय चरित्र की पूरी रक्षा की गई है। समाज के कर्तव्यो को पूरा करते हुए भी पद-पद पर यह चेतावनी दी जा रही है—

का निचित रे मानुस! आपन चीते आछु।
लेहि सजग होइ अगमन मन पछिताव न पाछु॥
—जायसी

मनुष्य-प्रकृति तीन गुणो से युक्त है—सत्व, रज और तम। थोड़े-बहुत अश मे प्रत्येक मे य गुण वर्तमान रहते है। इन्ही गुणो के न्यूनाधिक्य पर मनुष्य-चरित्र सगठित होता है। हम मनुष्य को उसके सात्विक गुण के कारण देवता समझने लगते है और उसकी घोर तामसी प्रवृति के कारण उसकी गणना निकृष्ट श्रेणी मे करने लगते है। परन्तु मनुष्य मे एक विशेषता है, उसमे इन गुणो के ऊपर अंकुश रखने की क्षमता है। इसी से वह भला और बुरा बन सकता है। हमारे यहाॅ के साधु और असाधु

पुरुष इसके उदाहरण है। प्लेटो ने मनुष्य को तीन भागो में विभक्त किया है, वे हमारे तीनो गुणो मे अधिक अन्तर नही रखते। किन्तु हमारे विद्वानो ने इस प्रकार का भेद न रखकर सभी मनुष्यो को एक ही श्रेणी मे रख दिया है। यही उचित भी है; क्योकि व्यवहार मे प्रत्यक्ष है। हमारे समाज मे संत भी हैं असंत भी। और प्रायः देखा जाता है कि हमारे यहाँ असंत भी राज्याधिकारी बन बैठते हैं। रावण, कंस और हिरण्यकश्यपु असंत कोटि के मनुष्य है। योरप मे आदर्श समाज की कल्पना करनेवाले संघर्ष से दूर भागते है। उनमे हमारे यहाँ के शृंगारी कवियो की भाँति 'बारहुमास बसंत' की काल्पनिकता रहती है। दूसरी ओर हमारे विद्वानो ने शक्ति के विधायक और विघातक रूपो को प्रकटकर जीवन-संग्राम में सद्गुणो की विजय और असद्गुणो की हार का जीवित चित्र अङ्कित किया है।

फिर भी व्यक्तिगत रूप से यह सत्य है कि मनुष्य-जीवन की वास्तविकता का प्रत्येक व्यक्ति अनुभव नही करता। मनुष्य-जीवन की वास्तविकता उसके शक्ति-संचार मे है। 'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम' के विचार रखनेवाले अपनी महत्ता को नहीं समझते। हमारे समाज मे ऐसे विचार रखनेवाले मनुष्यो की संख्या कम नहीं रही है। फिर, जो लोग दिनरात दौड़-धूपकर अपना पेट भर लेते और सोकर सबेरा कर देते है, वे भी तो मनुष्य-जीवन के सुख से वञ्चित रहते है। परमार्थ-चिन्तन की

भावना का रहस्य अकर्मण्यता मे नही रहा है, इसका अनुभव भी हम कर चुके है। आज यदि रवीन्द्र की कविता में खेत मे खड़े धूल-भरे किसान के सामने मुक्ति खेलती है, तो, बहुत पहले कबीर साहब हमे यह संदेसा दे गये है—

कोने परा न छूटि हो, सुन रे जीव अबूझ।
कबिरा मड़ मैदान मे, कर इन्द्रिन से जूझ॥

किन्तु मनुष्य की शक्ति को वही तक बढ़ने देना चाहिए जहाँ तक उसमे आत्माभिमान न पैदा हो। मनुष्य सर्वत्र विजयी नही होता। अजेय कहलानेवाला नेपोलियन भी एक दिन हारकर बन्धन मे पड़ गया था। प्रगतिशील जापान मे भूडोल ने टोकियो टापू ही उलट दिया, और अभी उस दिन भयंकर तूफान ने इंग्लैंड मे हाहाकार मचा दिया था। इसी से मनुष्य के अभिमान को अंकुश मे रखने की आवश्यकता है।

रहिमन अती न कीजिए, गहि रहिए निज कानि।
सहिंजन अति फूले तऊ, डार पात की हानि॥
तेहि प्रमान चलिबो भलो जो सब दिन ठहराइ।
उमँड़ि चलै जल पाट तै, जो रहीम बढ़ि जाइ॥
जो रहीम होती कहूँ, पभु गति अपने हाथ।
तौ को धौं किहि मानतो, आप बड़ाई साथ॥

—रहीम

मनुष्य-प्रकृति का एक लक्षण उसका परस्पर संसर्ग (Association) है। यदि हम ध्यान से देखें तो मनुष्य-जीवन का अधिकाश इसी संसर्ग को निबाहने मे व्यय होता है। घर-द्वार, कपड़े-लत्ते, खान-पान की वस्तुएं आदि किस उद्देश्य से संग्रह की जाती है? अस्तित्व के लिए, और ये सब वस्तुएँ किस प्रकार प्राप्त होती है? परस्पर के सहयोग से। जन्म से लेकर आमरण और कदाचित् उसके बाद भी यह संसर्ग-व्यवहार नहीं छूटता। तीनो प्रकार की आपदाओ से बचने के लिए उसे किसी-न-किसी का सहारा ढूँढ़ना पड़ता है। दूसरी ओर यदि हम मनुष्य की लड़ने-भिड़नेवाली प्रकृति को ले तो उसके लिए भी दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। हमतो देखते है, लड़ाई-झगड़े मे असहयोग का जितना दृढ़ प्रमाण मिलता है, उतना और किसी अवस्था मे नहीं। यदि राक्षस न होते तो देवताओ का अस्तित्व कहाँ था? यदि रावण-राज न होता तो राम-राज की कल्पना ही कैसे होती? देवतागण जिस समय भयभीत होकर स्तुति करते है, उस समय ईश्वरीय वाणी का विकास होता है—

जनि डर पहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहौ नरबेसा।।
असनसहित मनुज अवतारा। लेइहौ दिनकर बंस उदारा।।
हरिहौ सकल भूमि-गरुआई। निर्भय होहु देव-समुदायी।।

इसमे एक पूरे समाज की सृष्टि का बीज मौजूद है। ईश्वर

मनुष्य-रूप धारण करता है और वह भी 'असन-सहित'। मनुष्य की सहयोग-प्रवृत्ति का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

[४]

व्यक्ति को छोड़कर समूह की ओर बढ़िए। इसके पहले आप जान चुके है कि व्यक्ति की प्राकृतिक आवश्यकताओ के कारण भी समूह और उसके साधन-रूप सहयोग की उत्पत्ति होती है। किन्तु हमारे सहयोग का ढंग पशुओ की भॉति नही है। वह विचारो के आधार पर होता है और धीरे-धीरे ये ही विचार विकास पाकर हमारे लिए स्वाभाविक हो जाते है। फिर भी एक बात ध्यान देने योग्य है। वनस्पति तथा पशु-शास्त्र के विद्वानो ने पौदो और पशुओ मे भी परस्पर-संसर्ग तथा सहयोग के उदाहरण दिये है। डाक्टर जगदीशचन्द्र बोस ने विज्ञान-द्वारा वृक्षो मे जीवन होना सिद्ध कर दिया है, यही नही, बाहरी परिस्थितियो के प्रभाव का भी वे अनुभव करते है। दूसरी ओर मधु-मक्खियो की कथा हम बचपन से पढ़ते आये है, चीटियो के सुनियंत्रितदल का उदाहरण भी हमारी पुस्तको मे पाया जाता है। जहॉ तक एक ही ओर बढ़नेवाले जीवन का सम्बन्ध है वहाँ तक हममे और पशु में कोई अन्तर नही देख पड़ता। हॉ, परिवर्तन और क्रान्ति में मनुष्य-जीवन की विशेषता है। आज एक संस्था का निर्माण कर वह तोड़ सकता है, कल एक शासन-पद्धति पलटकर उसके स्थान पर दूसरी स्थापित कर सकता है। हॉब्स के सिद्धान्त को

हम मानें, तो मनुष्य एक भेड़िया है, जो दूसरे को हड़पने के लिए तैयार बैठा रहता है, उसके अनुसार तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति लड़ने-भिड़ने की है। जीवन का यह आदर्श कुछ भी रोचक नहीं है। यह प्रवृत्ति हमारे साहित्य मे स्थान नही पा सकी है। हमारे यहाँ तो परोपकार और त्याग पर मनुष्य-जीवन का निर्माण होता है और आश्चर्य तो यह है कि इस प्रवृत्ति के उदाहरण हम वृक्षादि से लेते है, जो विकास की श्रेणी मे बहुत नीचे है।

वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर
परमारथ के कारने साधन धरा सरीर ॥

—कबीर

हमारे साहित्य मे समाज की नींव किसी ऐसे समझौते पर नही रखी गई है, जो क्षण भर में परिवर्तित हो जाय। आगे चलकर मै यह बताने का प्रयत्न करूँगा कि हमारे साहित्य के निर्माताओ ने एक ओर तो समाज को अपने पैरो मज़बूती से खड़ाकर दिया है और दूसरी ओर उसे वह शक्ति दी है, जो समय के प्रवाह के साथ दृढ़ रह सके।

यदि समाज के भिन्न अवयवो की एकता का ही उदाहरण लिया जाय तो वह हमे इस प्रकार मिलता है—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान मे एक।
पालै पोसै सकल अँग, तुलसी सहित विवेक ॥

—तुलसीदास

किसी समाज का इससे अच्छा नियंत्रण और कहाँ हो सकता है ? दूसरी ओर संगठित समूहो के कार्यो पर विचार करते हुए प्रश्न हो सकता है कि प्रथमतः उसमे मतैक्य हो नही सकता, और यदि हुआ भी, तो यह नही कहा जा सकता कि वह समाज के हित के लिए ही है। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज-रायसा ही को लीजिए। पृथ्वीराज के १३—१४ युद्धो मे संभवत. तीन चौथाई केवल विवाह के लिए हुए थे। इस दशा में यह नही कहा जा सकता कि इन युद्धो मे जिन सैनिको के प्राण गये, उससे उनका हित हुआ। पृथ्वीराज के इशारे पर और उसके व्यक्तिगत हित के कारण ही असंख्य सैनिकों को मर जाना पड़ा। किन्तु जब रावण के विरुद्ध राम युद्ध की घोषणा करते है, तो उसमे न केवल सैनिको मे उत्साह दिखाई पड़ता है, वरन् देवता और मनुष्य सभी ऐसे युद्ध की अभिलाषा करते है। ऐतिहासिक काल ही मे राणा प्रताप का उदाहरण लीजिए। जिस समय सर्दारो का एक प्रतिनिधि राणा से कहता है—'अन्नदाता' यह आपके कहने की बात है। क्या आप अपने लिए यह कष्ट उठा रहे है ? जिस जन्म-भूमि की रक्षा में आप इतने दुःख सह रहे हैं, वह क्या हमारी नहीं है ? उसकी रक्षा क्या हमारा कर्तव्य नहीं है ?' तो यह स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है कि इस समय एक व्यक्ति की आज्ञा का पालन ही समष्टि के हित का कारण है।

समाज मे कभी-कभी ऐसी अवस्था भी उत्पन्न हो जाती है,

जब दो व्यक्तियो की अनिच्छा पर भी उन्हे एक दूसरे का साथ देकर उद्देश्य को पूरा करना पड़ता है। उदाहरण के लिए सत्य-हरिश्चन्द्र नाटक की स्मशानवाली घटना लीजिए। शैब्या के पास वस्त्र था ही नही, अतएव कफन देने की ओर उसका ध्यान भी न था, उधर हरिश्चन्द्र अपने पुत्र की लाश देखकर कभी कफन की इच्छा न कर सकते थे। किन्तु दोनो के सम्मुख कर्तव्य था और इसीसे इच्छा के विरुद्ध दोनो को एक-दूसरे का साथ देना पड़ा।

मनुष्य के पारस्परिक सहयोग का एक कारण आध्यात्मिक एकता भी है। हिन्दी-साहित्य ने हमारे समाज मे इस प्रकार की एकता के बहुत सुंदर उदाहरण दिये है। जिस समय कबीरदास कहते है—

यह तन वह तन एक है, एक प्रान दुइ गात।
अपने जिय से जानिए मेरे जिय की बात॥

तब मनुष्य-हृदय की विशालता सजीव होकर हमारे सम्मुख आ जाती है। सच पूछो तो एकता का यह आधार इतना सुदृढ़ है कि कोटि-कोटि क्रांतियाँ इस तत्व की सत्यता को नही मिटा सकती। यदि आध्यात्मिक एकता की ओर ही प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान चला जाय तो बहुत से भेदभाव मिट जायँ। यह ठीक है कि सर्वसाधारण जनता इस प्रकार का ऐक्य नही समझ सकती, वह तो जीवन के चलते-फिरते मार्ग मे किसी ऐसे हित की खोजमे रहती है, जिसके कारण उसे कभी न कभी घोर मतभेद का सामना

करना पड़ता है। परंतु समाज का यह आदर्श एकदम कल्पित नही है। अपने ही समान इन्द्रियधारी मनुष्य को देखकर एक दिन प्रत्येक व्यक्ति सोच सकता है कि आखिर वह भी मनुष्य ही है।

[५]

समूह के पश्चात् संस्थाओ का नम्बर आता है और सभ्यता के विकास मे हमे इनका दर्शन बहुधा होता रहता है। यो तो शिक्षा, उद्योग तथा शासन-सम्बन्धी अनेक संस्थाओ की परिगणना की जा सकती है, और हमारे साहित्य मे ऐसी संस्थाओं के वर्णन की कमी नही हैं, फिर भी विवाह और भाषा के रूप मे दो ऐसी शक्तियाँ है जो मनुष्य-समाज को निरन्तर एकता के सूत्र मे आबद्ध रखती है। यहाँ हम केवल भाषा ही के सम्बन्ध मे कुछ विचार करना चाहते है। भाषा मनुष्य के विचार-प्रदर्शन का एक साधन है और भले ही उस भाषा द्वारा कोई व्यक्ति दूसरे का हित न करे, किन्तु सहयोग के लिए उसे भाषा का आश्रय लेना ही पड़ता है। भाषा के सम्बन्ध मे पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के ये विचार कितने सुंदर हैं—'विजित देशो पर विजेता क्यो अपनी भाषा का भार लादते है? आष्ट्रिया के जिन प्रान्तो पर इटली का अधिकार हो गया है, वहाँ छल, बल और कौशल से क्यो इटालियन भाषा ठूँसी जा रही है? जर्मनी क्यों अपने दलित देशों या प्रांतों में अपनी ही भाषा का प्रभुत्व स्थापित करने का प्रचंड

प्रयत्न कर चुका है ? क्यों अभी उसने उस दिन जर्मन अफ़सरों और कर्मचारियों को यह आज्ञा दी थी कि रूरप्रांत में फ्रांसवालों के कहने से खबरदार, अपनी भाषा छोड़कर फ्रांस की भाषा का कदापि व्यवहार न करना। मुँह से जो शब्द निकालना, जर्मन भाषा ही के निकालना। इसका एक मात्र कारण स्वराज्य और स्वभाषा का घना सम्बन्ध है। यदि भाषा गई तो अपनी जातीयता और अपनी सत्ता भी गई ही समझिए। बिना अपनी भाषा की नींव दृढ़ किये स्वराज्य की नींव नहीं दृढ़ हो सकती। जो लोग इस तत्व को समझते है, वे मर मिटने तक अपनी भाषा नहीं छोड़ते। दक्षिण अफ्रीका मे अपने अस्तित्व-नाश का अवसर आजाने पर भी बोअरो ने अपनी भाषा को अपने से अलग नही किया। जिनमे राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो एकता के जादू को जानते है वे प्राण रहते कभी अपनी भाषा का त्याग नही करते'। तभी तो जिस समय धार्मिक क्षेत्र मे संस्कृति के अभिमानी पण्डितो के पाखण्ड-विडम्बन के लिए क्रांति की आवश्यकता हुई, तो रामानन्द जैसे धर्म-प्रचारक ने हिन्दी भाषा द्वारा जनसाधारण को अपनी ओर करने का प्रयत्न किया, उसी से तो कबीर जैसा निर्भीक आलोचक और समाज-सुधारक पैदा हो सका। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी तो जनता की भाषा का आश्रय लेकर राम-नाम की अमृत-वर्षा की। इसी भाषा की एकता के लिए तो उस दिन कांग्रेस के सभापति पं० मोतीलाल

नेहरू का मुँह बंद कर दिया गया! राष्ट्रीय एकता के लिए तभी तो महात्मा गांधी राष्ट्रभाषा का महत्व प्रकट करते है! सारांश यह कि समाज के निर्माण मे व्यक्ति के साथ उसकी भाषा का भी प्रमुख स्थान है।

[६]

मानव-प्रकृति की आलोचना करते हुए हमने थोड़े मे यह समझने की चेष्टा की है कि समाज-विज्ञान के सिद्धांतो का हिन्दी मे व्यवस्थित विवेचन न होने पर भी उसमे वे सब बाते मौजूद हैं, जिनको एकत्रितकर इस शास्त्र का भारतीय दृष्टि से निर्माण किया जा सकता है। व्यक्ति की इच्छा, उसके विचार और प्रकृति के स्वाभाविक प्रवाह को समझकर हम यह भी मालूम कर सकते हैं कि वह एकता और सहयोग की ओर है। इसके पश्चात् जब हम राष्ट्र-व्यवस्था के क्रम को देखते है, तो सबसे पहले हमारी दृष्टि कुटुम्ब पर जाती है। कुटुम्ब की व्यवस्था और उसकी सुन्दरता के बड़े सुंदर उदाहरण हमारे साहित्य मे मिलते है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य के अंतर्गत कुटुम्ब का जो स्वरूप हमे देख पड़ता है, उसमे कुटुम्बगत प्रत्येक प्राणी के परस्पर व्यवहार नियमो और आदर्शों का वर्णन तो है ही, परन्तु मातृत्व और वात्सल्य के विषय मे अतिशय विशद विवेचना की गई है। रामायण की कुटुम्ब-व्यवस्था में हम सभी प्रकार के मनुष्य देखते है, भाई, पुत्र, माता, पिता, मित्र, पड़ोसी सभी कुटुम्ब की

व्यवस्था के सहारे चलते है, एक दूसरे का कर्तव्य भी भली भाँति समझते है, यहाँ तक कि पालित पशुओ के प्रति भी कुटुम्ब मे स्थान है और मनुष्यत्व इस बात के लिए तत्पर रहता है कि उस कुटुम्ब द्वारा आगत अतिथियो, साधु-संत, यहाँ तक कि पशु-पक्षियो तक का कल्याण हो सके ।

कुटुम्ब का मूलाधार क्या है, इस सम्बन्ध मे हमारे साहित्य में विभिन्न मतो का पोषण किया गया है। हिन्दी-साहित्य के आदिकवि चंद बरदाई ने पृथ्वीराज के चरित्र-वर्णन मे उनके पराक्रम ही के विषय मे सब कुछ लिख डाला है। फिर भी जहाँ उस चरित्र से तत्कालीन राज्य-व्यवस्था का दर्शन मिलता है वही एक बात बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो जाती है कि युद्ध के बीच उसकी प्रेम-भावना दबती नही। विवाह के कारण इतने युद्धो का करना यदि हम पृथ्वीराज के लिए अपवाद भी मान लें, तो भी, यह तो विदित ही हो जाता है कि बाहरी परिस्थितियो के पर्दे मे भी मनुष्य अपने कौटुम्बिक सुख के लिए स्त्री-जाति का सहयोग चाहता है। स्त्री-पुरुष का प्रेम ही कुटुम्ब व्यवस्था का आधार है। आगे चलकर जायसी ने भी अपने काव्य मे जिस कुटुम्ब-व्यवस्था का उदाहरण पेश किया है, उसमे भी आज्ञाकारिणी सुन्दरी स्त्री के होते हुए भी रतनसेन पद्मिनी के रूप-लावण्य की ओर खिंच जाता है और अपने कुटुम्ब-सुख को धूल मे मिलाकर चला जाता है। किन्तु इन दोनो उदाहरणो से यह

तो प्रकट हो जाता है कि प्रत्येक कुटुम्ब में एकपत्नी-व्रत का पालन होना चाहिए। ऐसा न होने से कौटुम्बिक शान्ति और सुव्यवस्था नष्ट होजाती है। कृष्ण-चरित्र से हमे ऐसी कोई शिक्षा नही मिलती। भले ही आध्यात्मिक अनुराग की ओट मे शत-शत गोपियो के साथ प्रेम-क्रीड़ा का रहस्य समझाया जा सके, किन्तु वास्तविक जीवन मे उसका कैसा प्रभाव पड़ता है, यह प्रत्येक समझदार जान सकता है। इसके बाद राम-चरित्र मे हमे वे सभी गुण देख पड़ते है, जिनका होना प्रत्येक कुटुम्ब मे आवश्यक है। किन्तु मै यह बताना चाहता था कि हमारे प्राचीन हिन्दी-साहित्य मे समान व्यवस्था का जो विषय है, उसमे मुख्यतः दो भाव पाये जाते है। राम और कृष्ण के जीवन की असाधारणता एव अलौकिकता का विचार न करते हुए हमे रामायण और कृष्ण-चरित्र—सूरसागर—मे कुटुम्ब का मूलाधार 'बालक' समझ पड़ता है। दूसरी ओर हमारे साहित्य मे प्रेम-कथाओ के रूप मे ऐसे उदाहरण भरे पड़े है, जिनमे कुटुम्ब का मूलाधार केवल स्त्री-पुरुष का प्रेम प्रतीत होता है और उनके परिणामो से यह नही विदित होता कि 'बालक' का स्थान कुटुम्ब मे सर्व-प्रधान है। हाँ, जायसी ने एक स्थान पर यह अवश्य दिखाने की चेष्टा की है कि पुत्र के चले जाने से सारा कुटुम्ब सूना जान पड़ता है; किन्तु रतनसेन के उद्देश्य के सामने वह बात छिप-सी जाती है। रतनसेन की माता उससे कहती है—

राजपाट दर परिगह तुम्हही सो उजियार।
बैठि भोग रस मानहु कै न चलहु अँधियार॥

× × ×

रोवत माय न बहुरत बारा। रतन चला घर भा अँधियारा॥

सूरसागर मे भी हम पुत्र-प्राप्ति के लिए नद को चिंतित नही पाते, यद्यपि कृष्ण के मिल जाने पर हम उनमे नंद व यशोदा का अपूर्व लाड़-प्यार पाते है। इधर राम-चरित्र मे हम दशरथ को पुत्र के लिए अतिशय चिन्तित देखते है। वे पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ और अनुष्ठान करते है और मनचाही हो जाने पर अपने जीवन को धन्य मानते है। इससे एक निष्कर्ष तो यह निकलता है कि कुटुम्ब का मूलाधार दम्पति-जीवन है और पुत्र उसका स्वाभाविक परिणाम है, दूसरी ओर यह बात पायी जाती है कि कुटुम्ब का सुख और उसकी सफलता सतान की प्राप्ति मे है और यही उसका परमोद्देश्य है। किन्तु वस्तुत. सन्तति बिना कौटुम्बिक जीवन का विकास होता नही। राम के अभाव मे दशरथ का जीवन समाप्त ही होने को था। बूढ़े हो ही चुके थे, मर जाते और राम-चरित्र का नाम ही न लिया जाता। पुत्र के अभाव मे कुटुम्ब और गृह शून्यवत् प्रतीत होता है। कृष्ण के वियोग मे माता यशोदा की आकुलता इस भाव को कितना स्पष्ट कर रही है—

प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है।
दुख-जल-निधि डूबी का सहारा कहाँ है॥
लख मुख जिसका मै आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैनतारा कहाँ है॥

× × × ×

मुझ विजित जरा का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा॥
धन मुझ निधनी का लोचनो का उँजाला।
सजल जलद की सी कांतिवाला कहाँ है॥

× × × ×

सहकर कितने ही कष्ट औ सङ्कटो को।
बहु यजन करा के पूज के निर्जरो को॥
यक सुअन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा॥
प्रियतम! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है॥

—हरिऔध

× × × ×

यह ठीक है कि संस्कृत आयुर्वेद के आधार पर हिन्दी-साहित्य मे भी ऐसे ग्रंथ लिखे गये है जिनमे सतान की उत्तमता पर ज़ोर दिया गया है और उसके साधन भी बताये गये है।

यह शास्त्रीय दृष्टि है। तथापि साधारण लोक-व्यवहार मे भी उत्तम सन्तति की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है। देखिए—

जननीजण तो भक्त जण के दाता के सूर।
ना तरु रह जो बॉझ ही मती गॅवावे नूर॥

× × × ×

नतरु बांझ भलि बादि बियानी।
राम विमुख सुत ते बड़ हानी॥

× × × ×

[७]

हिन्दी-साहित्य मे वैवाहिक प्रथा की चर्चा भी विस्तार-पूर्वक है। चाहे हम नवयुग और नवीन सभ्यता से प्रभावित उपन्यास पढ़ें और चाहे प्राचीन प्रेम-गाथाओ से लेकर तुलसीदास की रामायण को देखे, यहॉ तक कि चंद बरदाई के रासौ पर भी यदि हम दृष्टि दौड़ाऍ, तो हमे विदित होता है कि विवाह-पद्धति का आदर्श पूर्ण स्वतन्त्रता है, अर्थात् स्वयंवर की प्रथा से लेकर गन्धर्व-विवाह तक आज़ादी है। प्रत्येक अवस्था मे स्त्री-पुरुष मे पहले प्रेम का अङ्कुर उत्पन्न होता है और यद्यपि कवियो तथा प्रेम-गाथा व उपन्यास-लेखको ने स्त्री-पुरुष के सम्मिलन मे साधक-बाधक

सभी साधनो के उल्लेख द्वारा आश्चर्य व अतिशयोक्ति का सहारा लिया है, परन्तु इसके अन्तर्गत सिद्धान्त वही बना रहता है।

वर-वधू के चुनाव मे इतनी स्वतन्त्रता देकर कौटुम्बिक व्यवस्था मे स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में अनेक मत हमारे साहित्य मे प्रकट किये गये है। यद्यपि अभी तक पिता-पुत्र और भाई-भाई के कर्तव्यो के विषयो मे विवाद नही उपस्थित हुआ है, एक ओर लक्ष्मण-भरत तथा दूसरी ओर विभीषण-रावण जैसे भाई यद्यपि कर्तव्य के दो चित्र उपस्थित करते है और यद्यपि कर्तव्य की ओट मे भरत कैकेयी की भर्त्सना कर सकते है, साथ ही हमारे कवि—

'अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन'

के रूप मे पुत्र के विचार-पूर्वक कर्तव्य-पालन का आदेश दे देते है, फिर भी इन सबके सम्बन्ध मे विशेष अधिकार-परिवर्तन हुआ नहीं पाया जाता। सारा झगड़ा है—दम्पति-जीवन की व्यवस्था पर। चाहे हम रामायण मे चित्रित सीता, मदोदरी और सुलोचना की कथा पढ़े और चाहे ऐतिहासिक रमणियो के सतीत्व और जौहर पर दृष्टि डाले, अथवा आज भी परम्परागत हिन्दू-गृहस्थी की व्यवस्था देखे, हमे सर्वत्र यही बात देख पड़ती है—

एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पतिपद प्रेमा॥

किन्तु अब इसका दूसरा पहलू भी हमारे सामने है। वर्तमान साहित्य मे अङ्कित स्त्री-चरित्रो में हम स्त्रियो मे आत्म-

समर्पण के भाव बहुधा नही पाते हैं, उनमे समता और समानाधिकार की भावना व्याप्त हो रही है। वे भी अपने विचार रखती है और उन्हे भी अपने इष्ट-मित्रो से मिलने और पत्र-व्यवहार करने का पूर्ण अधिकार है। पति महाशय को अपनी स्त्री के नाम आये हुए पत्रो को चुपचाप पढ़ने की घृणित उत्कण्ठा नही होनी चाहिए और न उन्हे गुपचुप आकर अपनी सहयोगिनी के पत्रो को पढ़ने की धृष्टता दिखानी चाहिए। स्त्रियो के आन्दोलन की यह एक झलक मात्र है। इसकी भलाई-बुराई की आलोचना हमारा ध्येय नही है। हमे तो यह समझ लेना चाहिए कि विवाह के रूप मे दम्पति-जीवन का एक आदर्श सीता के रूप मे हम पाते है और दूसरा आजकल के उपन्यासो की सरला-विमला और कमला के रूप मे भी।

[८]

राष्ट्र के संगठन-क्रम में—विशेषतः कौटुम्बिक कर्तव्यों के दायित्व में—शिक्षा का भाग बहुत अधिक है। प्राचीनकाल से हमारे समाज मे ब्रह्मचर्याश्रम और गुरु-गृह-निवास के रूप मे शिक्षा का क्षेत्र निश्चित कर रक्खा गया है। यह शिक्षा मन और बुद्धि के विकास के साथ शरीर और शक्ति का भी विकास करती है। इस शिक्षा-व्यवस्था मे शास्त्रो का पठन-पाठन भी है और आखेट, बाण-विद्या आदि की शिक्षा भी। सूरदासजी ने अपने बालक कृष्ण को खिलाड़ी ही बनाया है, किन्तु परम्परागत हमारी शिक्षा-

संस्थाओं को हिन्दी-साहित्य ने भुलाया नहीं है। 'सुदामाचरित' मे कृष्ण-सुदामा की मैत्री गुरु के यहाँ हुई थी। कृष्ण थे राज-पुत्र और सुदामा थे दरिद्र ब्राह्मण-सन्तान। किन्तु गुरुकुल की व्यवस्था में राव-रंक का भेद नहीं रहता। वहाँ किसी के साथ रिआयत नहीं की जाती। जिस शिक्षा को पाकर राजपुत्र कृष्ण और दरिद्र सुदामा मे ऐसा स्नेह हो जाय कि सुदामा के मिलने पर कृष्ण उनकी दीनावस्था पर रोने लगे और अपना सर्वस्व भेंटकर दें, उस शिक्षा की सर्वोत्कृष्टता पर कौन लाञ्छन लगा सकता है? तुलसी के राम भी तो उसी गुरुकुल का आदर्श प्रस्तुत करते हैं—

गुरुगृह गये पढ़न रघुराई। अल्प काल विद्या सब आई॥

शरीर-सामर्थ्य को बढ़ाने का भी अभ्यास किया जाता है—

बंधु सखा सँग लेहिं बुलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥

ज़रा राम के शिक्षणकालीन जीवन पर भी दृष्टि डालिए—

अनुज सखा सँग भोजन करहीं।
मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥
जिहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा।
करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥
वेद-पुरान सुनहिं मन लाई।
आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥

प्रातकाल उठिकै रघुनाथा ।
मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥
इत्यादि

बच्चो को कुटुम्ब मे व्यावहारिक शिक्षा भी मिलती है और माता-पिता उनके खेल-कूद मे पूरी दिलचस्पी लेते हैं। सूरदास के बालकृष्ण इन खेलो मे .खूब भाग लेते हैं। माता-पिता उनके खेलो पर दृष्टि रखकर उन पर उचित अंकुश रखते है। गृह मे स्वर्ग-सुख का साम्राज्य देख पड़ता है। बच्चो को देख-देख कर माता-पिता उमंगो मे तैरने लगते है, भविष्य की आशाएँ उनका चित्त प्रसन्न कर देती है।

किन्तु इधर दूसरा साहित्य भी है। इसमे वर्तमान शिक्षा का नग्न रूप चित्रित है। ब्रह्मचर्याश्रम का विनाश और उससे उत्पन्न तेजहीन श्रीहीन नवयुवको का दुर्बल स्वास्थ्य शिक्षा-प्राप्ति के आरंभ मे बढ़ती हुई उमंग का शिक्षा-समाप्ति के साथ ही संहार; दुराचार और अनाचार के भयंकर परिणाम, घोर अपव्यय और ऋण की भयंकरता, बेकारी और भूख, असामयिक मृत्यु और आत्महत्या आदि सभी बाते वर्तमान हिन्दी-साहित्य में पायी जाती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारी शिक्षा-संस्था का विनाश हो गया है, उसमे अपनापन नही रह गया है और इसी कारण हमारा कौटुम्बिक जीवन कृत्रिम तथा दुःखमय बन गया है। समाजशास्त्र के विद्वानो के लिए यह अध्य-

यन का विषय है। कौटुम्बिक व्यवस्था सम्बन्धी और अनेक बातें विस्तारभय के कारण यहाँ नही लिखी जा सकती।

[९]

अब आजीविका का प्रश्न आता है और उसी के साथ समाज मे साम्पत्तिक व्यवस्था की समस्या भी उठती है। इस प्रश्न के उत्तरार्द्ध का बहुत कुछ सम्बन्ध राज्य-व्यवस्था से है। साधारण वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से तो—

बरनास्रम निजनिज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय शोक न रोग॥

वस्तुत. वर्णाश्रम-धर्म में श्रमविभाग (Division of labour) के सभी चिन्ह देख पडते हैं। आर्थिक इतिहास की दृष्टि से देखते हुए हमे इस वर्णव्यवस्था मे श्रम की योग्यता (Efficiency of labour) बढ़ती ही देख पड़ती है। किन्तु चार वर्णों में इतिश्री नही हो जाती और उसके भीतर सैकड़ो उपजातियाँ उत्पन्न हो जाती है। सूदन कवि का 'दिल्ली की लूट' का वर्णन एक दृश्य उपस्थित कर देता है, जिसमे अनेक जातियो और अगणित व्यवसायियो की अच्छी खासी झलक मिल जाती है।

श्रम की उपयोगिता पर हमारे साहित्य मे बहुत कुछ लिखा गया है। अकर्मण्यता समाज के लिए अहितकर है। हमारे

चिरकालीन आदर्श राम और कृष्ण के जीवन निरन्तर उद्योग का उदाहरण उपस्थित करते है। उनका जीवन कठिनाइयो के ऊपर विजय-प्राप्ति का जीवन है। आदिकालीन हिन्दी-साहित्य ही में हमे युद्धमय जीवन का आदर्श मिलता है। हमारे भूषण शिवाजी को चुप नही बैठने देते। जिस समाज का मुखिया या राज्य का अधिपति सतर्क हो, उद्योगी और कर्तव्यशील हो, उस समाज मे अकर्मण्यता और आलस्य की दाल नही गलती। यदि समाज मे राजनीतिक सुव्यवस्था हो, तो उसमे दरिद्रता को स्थान नही मिलता। किन्तु जब राज्य मे अधर्म की प्रवृत्ति बढ़ती है तो सम्पूर्ण आर्थिक परिपूर्णता नष्ट हो जाती है। धर्म अपने कर्तव्य-पालन मे है और अधर्म उसकी अवहेलना है। जिस समय दिल्ली की राज्य-व्यवस्था बिगड़ती है तो क्या होता है, सुनिए—

लखि कै अधर्मसु अनीति अति सब विद्यनु चलनौ रढ़िय।
पुरइन्द छोड़ि ब्रजबास कौ ब्रजबासिन के कर चढ़िय॥

× × × ×

देस देस तजि लक्ष्मी दिल्ली कियो निवास।
अति अधर्म लखि लूट मिस चली करन ब्रजबास॥

× × × ×

[१०]

हिन्दी का पुराना साहित्य सुव्यवस्थित राजतन्त्र का पोषक

रहा है। राजा को देवता का अंश बताया गया है और प्रजा को राजा का अनुगामी होने का आदेश दिया गया है। उधर राजा भी प्रजा-हित की चिन्तना मे निमग्न रहता है और वह राज्यशासन मे प्रजा को साथ लेकर ही आगे बढ़ता है। रामराज्य का आदर्श आज भी वैसा ही सुन्दर है जैसा वस्तुत. वह उस समय था। जब हम पढ़ते है—

रामराज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका।
बयर न कर काहूसन कोई। रामप्रताप **विषमता खोई** ॥

× × × ×

सब नर करहि परसपर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुतिरीती ॥
चारिहु चरन धरम जग माही। पूरि रहा **सपनेहुँ अघ नाहीं** ॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुदर **सब बिरुज सरीरा** ॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखीन दीना। **नहिं कोउ अबुध** न लच्छन हीना ॥
सब निर्दभ धर्मरत घृनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥

× × × ×

रामराज कर **सुख सम्पदा**। बरनि न सकै फनीस सारदा ॥
एक-नारि-व्रत-रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी ॥

× × × ×

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन ॥
सस सम्पन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृत जुग कै करनी ॥

तब इस राज्यव्यवस्था की अभिलाषा कौन नही करना चाहता। हमारे राज्य का आदर्श भी तो यही है। किन्तु जब वर्तमान कवि की भारती यह कहती है—

नियम और उपनियमो के ये बन्धन टूक-टूक हो जाएँ।
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ।
शान्ति-दण्ड टूटे उस महा रुद्र का सिंहासन थर्राए।
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास विश्व के प्राङ्गण मे घहराए।

नाश ! नाश !! हा महानाश !!! की प्रलयंकरी आँख खुल जाए।
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए !!

—नवीन

तब हमे एक अन्तर्वेदना का बोध होता है, तब हमे समझ पड़ता है कि हमारी राज्यव्यवस्था परिवर्तन चाहती है। इस प्रलयंकर गान द्वारा महानाश को निमत्रण देकर उथल-पुथल या क्रान्ति की कामना की गई है। हमारे साहित्य में निर्भयता की ऐसी झङ्कार जीवनदान देनेवाली है। वह हमे सचेत करती है। क्यो ? इसलिए कि हमारा देश आज दीन है, दुःखी है—

कोउ नहिं पकरत मेरो हाथ ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मै हा हा होइ अनाथ !
जाकी सरन गहत सोइ मारत सुनत न कोउ दुखगाथ ।

दीन बन्यौ इतसो उत डोलत टकरावत निज माथ।
दिन दिन बिपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ॥ इ०
—हरिश्चन्द्र

इस परिवर्तन की साक्षी हमारा साहित्य पुकार-पुकारकर दे रहा है। पृथ्वीराज रासौ मे चंद की लेखनी ने हमारे अस्त होते हुए सूर्य का चित्र अंकित किया है। उसी मे जयचंद जैसे उलूको की काली करतूतो का भी दृश्य हमे देखने को मिलता है। हिन्दी-साहित्य का चारण काव्य ही हमें अपने गौरव की कहानी सुना रहा है।

[११]

हमारे साहित्य मे राज्यव्यवस्था के सम्बन्ध मे 'राजा' और 'प्रजा' इन्ही दो शब्दो का विशेषतः उल्लेख हुआ है। राज्य के 'नर नारि' 'पंचो' के रूप मे अवश्य प्रकट होते है, किन्तु वर्तमान साहित्य द्वारा प्रचारित राष्ट्रीयता की कल्पना उनमे कदाचित् नहीं देख पड़ती। हम आज जिस 'मातृभूमि' का दर्शन अपने साहित्य में करते है उसका वैसा ही अनुभव हम इसके पूर्ववर्ती साहित्य मे नही करते। और आश्चर्य तो यह है कि हमारे पृथ्वीराज, शिवाजी और राणाप्रताप ने मातृभूमि की रक्षा ही मे प्राण दिये है। हम वीरपूजा का आदर्श तो अपने साहित्य मे पाते है, पर जिसके कारण इन वीरो ने प्राण दिये, उस मातृभूमि के प्रति जनसाधारण

में पूजा और गौरव का भाव नही पाते। जिन तुलसी और सूर ने राम-कृष्ण के' गुणगान द्वारा हिन्दू जाति मे जीवन बनाये रक्खा, उनमे क्या इस मातृभूमि का प्रेम न था? था क्यो नही, किन्तु उनका भारत अयोध्या और बृन्दावन ही मे था। आज हम अपने को भारतवासी कहकर क्या दिखाना चाहते है? यही न कि हम एक ही राष्ट्र के पुत्र है—हम सब एक है? तब क्या तुलसी की अयोध्या और सूर के बृन्दावन मे वही भाव नही पैदा होते? ज़रा ध्यान देकर देखने की आवश्यकता है। भारतवर्ष मे हिन्दू-साम्राज्य का नाश हो चुका था। भारतीय प्रजा विभिन्न माण्डलीक राजाओ के बन्धन में पड़ गई थी। ऐसी दशा में यदि पराधीनता के पाश से मुक्त होकर जनसाधारण मे एकता स्थापित हो सकती थी तो वह अयोध्या और बृन्दावन ही मे। राज्यसत्ता छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी धार्मिक सत्ता की स्वतन्त्रता नही मर सकी थी। वह उस समय भी बिखरे हुए हिन्दू-समाज को एकता के बन्धन मे बॉध सकती थी। इस धार्मिक स्वराज्य के केन्द्र-स्थल ब्रज-मण्डल और अयोध्या मे ही थे। अतएव, यह ठीक है कि तत्कालीन साहित्य मे मातृभूमि की वन्दना आधुनिक ढग से नही की जाती थी, तथापि 'बृन्दावन' नाम से ही जनता मे अपनेपन का बोध होने लगता था। यही कारण है कि सूर और तुलसी के परिवर्ती कवियो ने भी भारतेन्दु हरिश्चद्र के पहले तक भारतभूमि की

वन्दना की ओर ध्यान न दिया और बृन्दावन ही की चरण-रज मे पड़े लोटते रहे। जहाँ रहकर और जिस भूमि की मर्यादा में हम अपने हिन्दूत्व और उसके साथ अपने गौरव की रक्षा कर सके, वही स्थान हमारे लिए पूज्य है—वन्दनीय है। देखिए अवधपुरी के लिए रामचद्र के मुख से तुलसीदासजी ने कैसे उद्‌गार प्रकट कराए है--

जद्यपि सब बैकुठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥
जनमभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥

× × × ×

उधर कृष्ण द्वारका मे बैठकर भी यही कहते है—

ऊधो! मोहि ब्रज बिसरत नाही।

आज जिस प्रकार 'भारतभूमि' की अर्चना में हम मुक्ति की कामना करते हैं, ठीक उसी प्रकार हमारे तत्कालीन आदर्श के अनुसार यह था कि—

मुक्ति कहै गोपाल सौं, मेरी मुक्ति बताय।
ब्रज-रज उड़ि मस्तक लगै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय॥

जितना अधिक पूज्य भाव आज मातृभूमि के लिए प्रकट किया जाता है, बृन्दावन के नाम में भी हिन्दू-समाज की वही

श्रद्धा रही है। हिन्दू ही क्यो, मुसलमान भी तो उसके प्रेम मे मुग्ध हो गये है'। रसखान का यह छंद कितना प्रसिद्ध है—

मानस हौ तो वही रसखानि बसौ ब्रज गोकुल गॉव के ग्वारन।
जो पशु हौं तौ कहा बस मेरो चरौ नित नंद की धेनु मॅझारन॥
पाहन हौ तौ वही गिरि को जो धर्‌यौ कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौ तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दीकूल कदम्ब की डारन॥

मनुष्य की बात तो दूर है, यहॉ तो पशु-पच्ची बल्कि पत्थर होकर भी उसी भूमि पर रहने की कामना है। राष्ट्रीयता का वर्तमान उपासक अपनी मातृभूमि के लिए इससे अधिक और क्या कह सकता है ? हम यह भी समझते आ रहे है कि 'पराधीन सपनेउ सुख नाही'। स्वाधीनता के लिए प्राण दान देने का आदर्श हमारे साहित्य-भण्डार मे आज भी रत्न की भॉति सुरक्षित है।

[१२]

समाज के इतिहास की खोज को मैं और आगे नही बढ़ाना चाहता। एक छोटे से निबन्ध मे यह कार्य पूरा भी नही हो सकता। मैने तो इसीलिए यह प्रयत्न किया है कि हमारे विद्वानो की साहित्यिक अभिरुचि इस ओर भी बढ़े। मै तो अपनी अयोग्यता के कारण अपने उद्देश्य और आदर्श को सफलतापूर्वक प्रस्तुत नही कर सका हूॅ; किन्तु इस दृष्टि से साहित्य के अध्ययन होने की आवश्यकता बताने ही के लिए मैने यह टूटा-फूटा प्रयास

किया है। हमारा साहित्यिक अतीत बड़ा सुन्दर था। उसमें सौन्दर्य-वैचित्र्य, असाधारणता और अलौकिकता की ओर ज़्यादा ध्यान दिया गया है। इतिहासकारो ने हमारी प्राचीन संस्कृति का गौरवपूर्ण चित्र अंकित किया है। हमारे कवियो ने भी उसी संस्कृति के आधार पर अपने काव्यो के चरित्र और विषय ग्रहण किये है। और यद्यपि उन्होंने उपवन, बाग, तड़ाग, पिक तथा कोकिल आदि का बहुलता से वर्णन किया है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह शस्य श्यामल भूमि केवल कवियो की कल्पना का चित्र है। न तो इन कवि-कल्पित उपवन, बाग-तड़ाग मे और न कमल-भ्रमर किम्वा पिक-कोकिल मे हमारे जीवन की वास्तविकता है। साहित्य के इतिहास का अध्ययन करनेवाला अपनी दृष्टि इतनी संकुचित नहीं रख सकता। वह असलियत को देखेगा और तब बता सकेगा कि उसकी परम पावनी सुरसरी का माहात्म्य स्नान तथा मुक्ति मे ही नही है, उसके तट पर अनेक सभ्य देशो का उत्थान और पतन हुआ है, यमुना की धारा मे कृष्ण की छबि की समता ही नहीं मिलती, किन्तु उसमे हमारी पर-हस्त-गता स्वाधीनता का प्रतिविम्ब भी पाया जाता है। इस प्रकार की ऐतिहासिक दृष्टि रखनेवाले साहित्य के उद्देश्य 'सुन्दरम' के साथ 'सत्यं' और 'शिवम्' की भी पूर्ति करते है।

साहित्य को हमें जीवित शक्ति के रूप मे देखना चाहिए। यह हम तभी देख सकते है जब साहित्य को उस रूप मे देखने

की हम मे लगन हो। हमारे जीवन के सर्वोच्च आदर्श मिट नही सकते, क्योकि उनसे हमे जीवन और शक्ति मिलती है। राम और कृष्ण भुलाये नही जा सकते। किन्तु साहित्य और समाज के इतिहास की दृष्टि से हमारी गति परिवर्तन की ओर होनी चाहिए। यदि तीन सौ वर्ष पहले हमारे साहित्य की धारा एक ओर बह निकली है तो वह निरन्तर उसी ओर नही बहती रहेगी। यदि किसी समय विरह और शृंगार के गीत हमे सुनने को मिलते थे, तो आज स्वाधीनता और देशभक्ति के गाने क्यो न गाये जायँ ? यदि एक समय दूसरे आचार्यो ने अपनी कुशाग्र-बुद्धि द्वारा अलंकार और रसो का पूर्ण विवेचन कर दिया, तो क्या आवश्यक है कि आज भी हमारे काव्य मे छैला कृष्ण के साथ वे ही राग अलापे जायँ ? क्या आज हमारी परिस्थिति वही है, जो अब से ५००-६०० वर्ष पूर्व थी ? क्या अब से बीस वर्ष पहले भी हम वैसे ही थे, जैसे अब है ? बात यह है कि समाज और परिस्थिति के अनुकूल साहित्य का भी निर्माण होता है—होना चाहिए। साहित्य मे मृतक जैसी शान्ति कभी नही आनी चाहिए। जीवित जाति के जो लक्षण है वे ही जीवित साहित्य के भी है। साहित्य को जीवित शक्ति समझनेवाला देखेगा कि हिन्दी-साहित्य का आरम्भ व्यक्ति और व्यक्तित्व से होता है; उस समय वीरपूजा की भावना ही मुख्य समझी जाती है। उसके बाद भक्तो और सन्तो द्वारा साहित्य दो धाराओ मे विभक्त होता

है, उसमे भक्ति-काव्य और त्याग वैराग्य-सम्बन्धी साहित्य की अभिवृद्धि होती है। राज्य-सत्ता के नाश के साथ पराधीनता के रूप मे साहित्य के इस स्वरूप का कारण भी वह खोज सकता है। इसके बाद शृगार-साहित्य के मैदान में आकर दोनो धाराओ का संगम हो जाता है, भक्ति और शृंगार तो गंगा-यमुना की भॉति लहराते रहते है, किन्तु सन्तो का साहित्य सरस्वती की भॉति लुप्त हो जाता है। फिर, इस क्षेत्र से गद्य के रूप मे पुनः साहित्य दो मार्गो से, किन्तु एक ही इष्ट की ओर, बढ़ता है और सम्भव है कि स्वदेश-भक्ति और स्वाधीनता के गायन के पश्चात् वह हर-हर करता हुआ विश्व-संगीत के अनन्त महासागर मे मिल जाय। साहित्य के इस रूप मे हम जीवन के चिन्ह पाते है।

साहित्य द्वारा समाज के इतिहास-दर्शन में एक बात और देखी जानी चाहिए। और वह है—जातीय संस्कृति किम्वा सभ्यता पर प्रभाव। हमारे ग्रंथो मे जिन विचारो का सग्रह हो रहा है, वे कैसे है, हमारे सामाजिक और राजनीतिक आदर्श हमे किस ओर ले जा रहे है, हम अपनी संस्कृति की रक्षा कर रहे है या उसे मिटा रहे है, इन्ही बातो की ओर ध्यान जाना चाहिए। जो जातियाॅ अपनी संस्कृति से च्युत हो जाती है, जो पराधीनता के बन्धन मे पड़कर ग़ुलाम बन जाती है, उनके साहित्य मे उनके विनाश की कथा अंकित रहती है। और यह तभी होता है जब

साहित्य का निर्माण करनेवाले मस्तिष्क इतने थोथे और गंदे हो जाते है कि उनमे 'स्व'-भावना का बीज तक नही रहता। रचनात्मक साहित्य यथा उपन्यास आदि ग्रथो मे इस प्रवृत्ति का पता तुरन्त लग जाता है। इतिहासकार घटनाओ ही के आधार पर अपनी बातें लिखता है, परन्तु काव्य और उपन्यास तो सर्वथा मस्तिष्क की उपज है। घटनाएँ समाज ही से ली जाती है, किन्तु विचारो के वस्त्र उन्ही के होते है। अतएव इस प्रकार के साहित्य की प्रगति को समझने और समझकर उसे पथ-भ्रष्ट होने से बचाने के लिए अग्रसर होना चाहिए।

जब साहित्य का इस दृष्टि से अध्ययन किया जाता है तब हमें उसका एक नया ही स्वरूप देख पड़ता है। अपना स्वरूप समझ लेने और अपनी शक्ति की दृढ़ता जान लेने पर ही हम दूसरो के सम्मुख जा सकते है। मैंने इस लेख मे संक्षेप में समाज के इतिहास के जिन पहलुओ का दिग्दर्शन कराया है, उससे यह तो प्रकट हो सकता है कि हमारी साहित्यिक प्रगति किसी अवस्था मे पीछे नहीं रही है। वस्तुतः जिस युग मे आर्य और मुस्लिम संस्कृति का संघर्ष हो रहा था, उस समय धार्मिक स्वतन्त्रता का दर्शन जनसाधारण को हिन्दी-साहित्य द्वारा ही हुआ था। हिन्दी-साहित्य ने भारतीय सभ्यता और आदर्श की रक्षा मे बहुत अधिक भाग लिया है। आज भी वह पीछे नही है। भले ही कुछ लोग दुराग्रह मे पड़कर अपनी अदूरदर्शिता प्रकट करने के

आज भी नायक-नायिकाओ के रूप मे राधाकृष्ण के दर्शन करे, किन्तु जागृत भारत तो इसके लिए तैयार नहीं है। उसे तो इस समय महाभारत के कृष्ण की आवश्यकता है। आज किसी रूप-गर्विता रमणी के फेर मे फ़कीर बनने का अवसर नही है, आज तो केसरिया बाना पहिनकर आत्म-समर्पण की आवश्यकता है।

तुलसी और सूर ने अपने समय मे वही काम किया जो आज हमे करना चाहिए। देशभक्ति किसी जोश का नाम नहीं है—वह है अपनी सभ्यता, जाति और राष्ट्र को अमर बनाने मे। क्या तुलसीदास की रामायण ने हिन्दी-साहित्य और उसके साथ हिन्दू जाति को गौरव प्रदान नही किया ? क्या उनकी रामायण द्वारा भारतीय सस्कृति की रक्षा नही हुई ? यदि हुई तो उन्हे देशभक्तो मे शिरोमणि कहना चाहिए। देशभक्ति मस्तिष्क मे होती है, शरीर में नही; वह प्रेम मे रहती है, घृणा मे नहीं, उसके द्वारा निर्माण होता है, विनाश नही।

देशभक्ति किम्वा राष्ट्रीयता के लिए राजनीतिज्ञ होने की आवश्यकता नही है। सभी राजनीतिज्ञ देशभक्त नही हुआ करते। बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर लार्ड रोनाल्ड्शे ने अपनी (The heart of Aryavart) नामक पुस्तक मे लिखा है कि जो व्यक्ति राजनीतिज्ञ नही है, उसका देशभक्त होना कही अधिक महत्व का है। उदाहरण के लिए रवीन्द्र ही को लीजिए, वे कवि

हैं, किन्त भारतवर्ष में वे राष्ट्रीय आदर्श के स्वरूप माने जाते हैं। सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प्रोफेसर राधाकृष्णम् ने रवीन्द्र के विषय मे लिखा है:—"In interpreting the philosophy and message of Sir Rabindra Nath Tagore we are interpreting the Indian ideal of Philosophy religion and art of which his work is the outcome and the expression We do not know whether it is Rabindra Nath's own heart or the heart of India that is beating here In his work India finds the lost word she was seeking" आधुनिक साहित्य की तुलना में, जिस भाषा-साहित्य को रवीन्द्र की ज्ञान-रत्न-राशि का दान प्राप्त हुआ है, वह अन्य साहित्यों के लिए ईर्षा का कारण होना चाहिए।

[१३]

छोटी से छोटी रचना से लेकर बड़ी से बड़ी रचना तक सभी साहित्य मे आदर की दृष्टि से देखी जानी चाहिए। प्रत्येक रचना अपना सदेश लाती है। समाज-निर्माण मे महान् व्यक्तियो का हाथ नहीं होता, उसमे छोटे से छोटे प्राणी का भी महत्व है। परन्तु हम तो देखते है, आज भी हमारे साहित्य के अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ और होनहार दोनो ही प्रकार के लेखक और कवि अवसर ही की प्रतीक्षा मे है। वे अब भी श्याम की मुरली सुनना और रासक्रीड़ा का आनंद उठाना चाहते है। उनके

ा जान पड़ता है, पीड़ा और अधःपतन के हाहाकार की ध्वनि नही पहुँची है। एक प्रकार के कवि नायिकाओ की खोज मे लगे है, तो दूसरे अनन्त की खोज मे दौड पड़े है। जो जाति अपनी विगत स्वाधीनता को नही खोज सकती, उसके सपूत वीणा के टूटे तार लेकर विश्व-रहस्य को खोजने जाते है। हमारे साहित्य की खिलती हुई प्रतिभा आँसुओ ही के रूप मे बही जा रही है। एक ओर विज्ञान उन्नति कर रहा है, दूसरी ओर साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध स्वातन्त्र्य एवम् साम्यवाद का संघर्ष हो रहा है; और इधर हमारे कवि—

'घने लहरे रेशम के बाल,
धरा है सिर में मैंने देवि !
तुम्हारा यह स्वर्गिक श्रृंगार'
—पंत

× × ×

मे नारी-रूप धरकर क्रीड़ा करना चाहते है। इन्हे यह नही सूझता कि हम कहाँ हैं और संसृति का कोलाहल हमे किस ओर बुला रहा है !

—रमाशंकर शुक्ल

कबीर : सिद्धान्त और रहस्यवाद

धर्म की मर्य्यादा स्थापित करने के लिए महान आत्माएँ समय-समय पर जन्म लिया करती है। कबीर का जन्म भी इसके प्रतिवाद-स्वरूप नही था। १४वी शताब्दी की बात है, कर्मपरता से सदैव उदासीन रहनेवाली हिन्दू जाति अपनी आलस्य-प्रवृत्ति एवं दयालुता के कारण अपनी स्वाधीनता को दासत्व के निंदनीय कराल बंधन मे बाँध चुकी थी। पुराने वीरो के शूरत्त्व की स्मृति मृतप्राय हिन्दू जनता मे अपना प्रभुत्त्व न जमा सकी और वीरता के साथ-साथ वीर गाथाओ एवं वीर गीतो की अंतिम ध्वनि भी रणथंभोर के पतन के साथ सदा के

लिए विलीन हो गई। देश मे मुसलमानो का राज्य प्रतिष्ठित हो गया। मदिरो के स्थान पर मसजिदो की स्थापना की गई, देव-मूर्त्तियो और पूज्य पुरुषो का अपमान होने लगा। अपने नौ निहालो की निर्दयतापूर्ण मृत्यु, अपनी सम्पत्ति पर विदेशियो का अधिकार, धर्म पर कुठाराघात, शासको की वेदनापूर्ण आज्ञाएँ—हिन्दू जाति ने उस समय क्या नही देखा !! वैराग्य की इस चरमसीमा पर पहुँचकर अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान को शरण लेने के अतिरिक्त सान्त्वना का और दूसरा मार्ग हो ही क्या सकता था ? काल के प्रतिनिधि कवियो ने जनता के हृदय को सँभालने के लिए भक्ति का एक नया मार्ग निकाला। शासक और शासितो को एकता के सूत्र मे बाँधने के लिए और "राम-रहीम" को एक करने के अभिप्राय से उन्होने दोनो के सामने ईश्वर के प्रेम-स्वरूप को रक्खा और भेदभाव हटाने का प्रयत्न किया। कबीर इस समय के प्रधान कवियो और समाज-सुधारको मे से थे। प्रश्न यह उठता है कि कबीर के कौन से सिद्धान्त थे, जिनके कारण उनका प्रभाव जनता पर इतना अधिक पड़ा। इसका उत्तर हम सक्षेप मे देने का प्रयास करते है।

कबीर-सम्प्रदाय का सबसे बड़ा सिद्धान्त ईश्वर की एकात्म-वादिता है। वही अखिल विश्व का निर्माणकर्ता अनादि और अनन्त है। कबीर का ईश्वर सर्वधर्मगत है, वह

विश्व व्यापक है और लड्डू-हलवा खानेवाले ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। उसका कोई निर्दिष्ट रूप नहीं, अतएव पत्थर की मूर्त्ति बनाकर उसे भोग लगाना कबीर के विचार मे केवल हास्यास्पद है। कबीर ने अपने 'ईश्वर' को 'राम', 'हरि', 'शार्ङ्गपाणि', 'यादवराय', 'गोपाल' 'साहब', 'राउर' 'खसम' आदि नामो से सम्बोधित किया है, परन्तु इन सब शब्दो मे भी बहुत कुछ विचित्रता है। इनमे से पहले पाँच नाम सांप्रदायिक और शेष तात्त्विक दृष्टि से प्रयोग में लाये गये है। जनश्रुति है कि कबीर ने वैष्णवसम्प्रदाय के परमोद्धारक श्रीस्वामी रामानंद से दीक्षा ली थी। अतएव वैष्णवसम्प्रदाय के नाम 'राम', 'गोपाल', 'हरि' आदि का 'परम-तत्त्व' के स्मरण करने के लिए प्रयोग करना उनके लिए स्वाभाविक था। परन्तु उन्होंने स्पष्टतया प्रकट कर दिया है कि उनके 'राम', स्वामी रामानन्द के दाशरथी राम से सर्वथा भिन्न है। कबीर का 'राम' से अभिप्राय निर्गुण ब्रह्म से है। उन्होंने कहा भी है—

(१) "निर्गुण राम, निर्गुणराम जपहु रे भाई।"

(२) "दशरथ सुत तिहुलोक बखाना,
रामनाम का परम है आना॥"

(३) "जाहि राम को कर्त्ता कहिये तिनहुँ को न काल न राखा।"

(४) "हृदया बसे तेहि राम न जाना ।
पूरब दिसा हंस गति होई ।
है समीप सधि बूझै कोई ।।
एरे मूरख नादाना, तैने हरदम रामहिं न जाना ।।"

ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रकट है कि कबीर के 'राम' में कोई विशेषता है। उनका 'राम' हृदय मे बसनेवाला और मृत्यु के पाश से परे है। वह लोक-विशेष निवासी नहीं है। कबीर की यह भावना हिंदुओं की ब्रह्मभावना से मिलती है, परन्तु एक स्थान पर कबीर की भावना इससे भी अधिक ऊँची है। निर्गुण भावना मे भी उन्हे स्थूलभावना का आभास होता है और इसी लिए राम को निर्गुण और सगुण दोनो से ऊपर मानकर वह कहते है—

अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निंदा ।
ता नूर थै सब जग कीया कोन भला कौन मंदा ।।

इससे प्रतीत होता है कि कबीर का 'नूर' रहस्यवादियो के 'अनन्त प्रकाश' का दूसरा नाम है। कबीर भी स्वयं रहस्यवादी था, इसका विचार हम आगे करेंगे। यहाँ पर यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि इन पंक्तियो से कबीर के ऊपर मुसलमानी मत का प्रभाव स्पष्टतया प्रकट होता है।

कबीर मूर्त्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। उनके विचार मे

निराकार परमब्रह्म की सत्ता निर्विवाद है, अतः मूर्त्ति बनाकर उसकी पूजा करना मूर्खता है। ऐसी पूजा करनेवाले उनकी दृष्टि मे ढोंगी है, बने हुए है और ८४ लाख योनियो मे भटकते हुए नरक की सेवा करनेवाले है। इसी लिए बड़े व्यंगपूर्ण शब्दो मे वह कहते है—

"पाहन पूजे हरि मिलें तो मै पूजूँ पहार"

कबीर का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति का साधन एक मात्र भक्ति है—

"कहै कबीर संसा नाही भगति मुगति गति पाई रे।"

मनसा, वाचा, कर्मणा भक्ति रखना ही उस तक पहुँचने का सुगम मार्ग है। वेदो और उपनिषदो के पढ़ने से ही कोई पंडित नहीं हो जाता। वास्तव में पंडित वही है जिसने प्रेम के ढाई अक्षर का पाठ पढ़ा हो। ज्ञानी अभिमान मे रँगा रहने के कारण माया के चक्कर मे भटकता फिरता है, परन्तु भक्त निरभिमान होकर शीघ्र परमात्मा तक पहुँच जाता है। कबीर का भक्ति-मार्ग सगुणमार्ग से भिन्न है। 'सगुण मार्ग' राम अथवा कृष्ण की उपासना का आदेश देता है और कबीर का भक्ति-मार्ग व्यक्तिगत साधना द्वारा ही इष्ट तक पहुँचने का उपदेश करता है। तुलसी और सूर की तरह कबीर अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल पर लोकादर्श

की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले नही थे। वह सदाचार और ब्रह्मज्ञान के रूखे-सूखे उपदेशो द्वारा भक्ति-मार्ग की व्यवस्था करना चाहते थे। इसी कारण कबीर मे वह अनेक-रूपता (imagery) एवं मधुरता नही है जो जायसी, सूर और तुलसी मे प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। जिस प्रकार किसान गर्मियो मे वर्षा का नही, वरन् ताप का भूखा होता है, उसी तरह कबीर 'चरम आनन्द' प्राप्त करने के लिए कष्ट-साधना के भूखे थे। सूर और तुलसी की तरह उनका लक्ष्य एव शस्त्र मानव-हृदय नही है। उनमे वह भावुकता और सहृदयता नही है जो परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करनेवाले रमणीय दृश्यो का चित्र अंकित कर सके, परन्तु कबीर मे भगवान की भावना का 'माधुर्य्य भाव' अवश्य विद्यमान है। उन्होने एक स्थान पर लिखा भी है—

"हरि मोर पीउ मै राम की बहुरिया।"

'राम की बहुरिया' कभी तो प्रिय से मिलने की उत्कंठा और मार्ग की कठिनता प्रकट करती है और कभी विरहवेदना का अनुभव करती है।

कबीर की शिक्षा है आत्म-ज्ञान प्राप्त करना, जो आत्मा के आनद के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार आत्मा अनादि है, उसी प्रकार माया भी अनादि है। यही माया सत्वगुण की अप्रधानता के कारण अविद्या-रूप को ग्रहण कर लेती है। इसी कारण

जीवात्मा चौरासी लाख योनियो में भ्रमण किया करती है। अज्ञान-वश जीवात्मा अपने (चेतन के) धर्म आनंद आदि को जड (विषयो) का धर्म मान लेता है, अर्थात् यह सुख मुझे विषयो से मिला है, ऐसा जान लेता है। इसीलिए आनंदस्वरूप होते हुए भी वह अपार दुख-सागर मे डूबा रहता है। उसे इस बधन से मुक्त करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है, सोपाधिक और निरुपाधिक। शुद्ध चेतन निरुपाधिक है, इसलिए अपने स्वरूप को पहचानने के लिए निरुपाधिक ज्ञान आवश्यक है। आत्म-साक्षात्कार के बिना मुक्ति नही हो सकती। "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः"।

कबीर कहते हैं कि यह नाम रूपात्मक दृश्य जो चर्म-चक्षुओ को दिखाई देता है, जल का घड़ा है, जिसके बाहर भी ब्रह्म-वारि है और भीतर भी। बाह्य-रूप का नाश होने पर जिस प्रकार बाहर और अदर का जल मिलकर एक हो जाता है, उसी प्रकार माया का पर्दा बीच से उठ जाने पर, अभ्यतर का ब्रह्म बाह्यस्थ ब्रह्म मे समा जाता है—

जल मे कुंभ, कुंभ मे जल है बाहरि भीतर पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहिं समाना यहु तत कथौ गियानी॥

संसार की अनित्यता पर भी कबीर ने बहुत जोर दिया है। उनका आदेश है कि मनुष्य पानी के बुदबुदे की तरह क्षणिक है। जिस प्रकार प्रभात होते ही तारे विलुप्त हो जाते है, उसी प्रकार

काल आने पर यह जीवन-लीला भी आँखो के देखते-देखते समाप्त हो जाती है। कबीर कहते है—

ऐसा यह संसार है जस सेमर का फूल।
दिन दस के व्योहार मे झूठे रंग न भूल॥
सेवर सुवना सेइया हुई ढेंढ़ी की आस,
ढेढ़ी फूटि चटाक दे सुवना चला उदास॥

माया मे पड़ा हुआ मनुष्य अपनी ही बात सोचता है, इसलिए वह परमात्मा तक नहीं पहुँच पाता। माया ममता की धात्री है। इसीलिए ज्ञानी माया का त्याग आवश्यक बताते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद-मत्सर माया के पाँच पुत्र है, जो सदैव मनुष्य के अधःपतन का कारण होते हैं। इसी से तत्त्वार्थियों को सावधान करने के लिए वह कहते है—

पंच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटै दिवस अरु संझा।
जो गढ़पति पुहकम होई, तौ लूटि सकै न कोई॥

अतएव भर्त्सना देते हुए कबीर ने कहा है—

जागु पियारी अब क्या सोवे।
रैन गई दिन काहे को खोवे॥

जिन जागा तिन मानिक पाया, तैं बैरी सब सोय गँवाया।
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी, कबहुँ न पिय की सेज सँवारी।
तैं बौरी बौरापन कीन्हा, भर जोबन पिय अपन न चीन्हा।

जागु देख पिय सेजन तेरे, तोहि छांड़ि उठि गये सबेरे।
कह कबीर सोई धुन जागे, सब्द-बान उर अतर लागे।

इस अज्ञान को हटाने के लिए कबीर ने आत्म-विचार का निर्देश किया है। यह आत्म-विचार सत्गुरु के उपदेश के बिना नही हो सकता। अत. कबीर ने सत्गुरु के सम्बन्ध की मुक्त कठ से प्रशसा की है। उनका मत है कि सत्गुरु के सम्पर्क मे आने से ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नही—

(१) "सन्तो भक्ति सतोगुरु आनी"
(२) हम भी पाहन पूजते होते बन के रोझ।
सत्गुरु की कृपया भई सिर ते उतर्या बोझ॥

यहाँ एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। कबीर के अनुसार गुरु का पद किसी ऐहिक पुरुष को नही मिल सकता। वह ईश्वर ही को गुरु मानते है। केवल उसके सहायतार्थ हमारी आत्मा अधोगति से मुक्त होकर स्वर्गीय भाव का अनुभव करती है।

हरि बिनु भरम—बिगुरचै गंदा।
जहँ-जहँ गयो अपनपौ खोयो, तेहि फंदे बहु फदा॥
जोगी कहे जोग है नीको, द्रुतिया अवर न भाई।
चुंडित मंडित मौनि जटाधर, तिनहुँ कहाँ सिधि पाई॥

ज्ञानी, गुनी, सूर, कवि, दाता, ई जो कहहिं बड़ हमही ।
जहँइ से उपजे तहँइ समाने, छूटि गयल सभ तबही ॥
बाये दहिने तजो विकारा, निजु कै हरिपद गहिया ।
कहँहि कबिर गूंगे गुर खाया, पूछे से का कहिया ॥

कबीर गुरु और शिष्य के शारीरिक साक्षात्कार के पक्षपाती नहीं है। उनकी धारणा है कि मानसिक सम्बन्ध द्वारा भी शिष्यत्व का निर्वाह हो सकता है ।

कबीर गुरू बसै बनारसी, सिष समंद्र तीर ।
विसरया नहीं बीसरै, जे गुण होई सरीर ॥

संभव है, रामानंद के साथ भी उनका यही मानस-गुरु सम्बन्ध रहा हो, क्योकि कुछ लोगो के मतानुसार कबीर शेख तक़ी के शिष्य प्रमाणित होते है ।

मनुष्य के विषय मे भी कबीर के विचार अत्यन्त उदार है। भिन्न-भिन्न धर्म-मतावलम्बी सब समान है। चांडाल और ब्राह्मण मे कर्म का भेद है। वर्ण-विभाग समाज की कृति का फल है। ईश्वर ने किसी को ग़रीब-अमीर नही बनाया। पैदा होने के समय सब की दशा एक-सी होती है। उन्नति और अवनति केवल व्यक्तिगत बुद्धि एवं प्रभा का परिणाम है ।

कबीर कर्मकांड को आडम्बर समझते थे। पक्के हिंदू-मुसलमान की तरह माला जपने मे कबीर को तनिक भी विश्वास न था। ऐसे मनुष्यो को वह शिक्षा देते हैं—

"ऐ मनुष्यो, हाथ की माला को छोड़कर मन की माला फेरो"।

कबीर केवल सत्य के उपासक थे। उन्होंने किसी नामधारी बंधन मे अपने को नही बाँधा। मुसलमानो के रोज़ा, नमाज़, ताज़िएदारी और हिंदुओ के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थ, व्रत आदि सभी की उन्होंने भरपेट निंदा की है। हिन्दुओ की जाति-पांति, छुआछूत, खान-पान के व्यवहारो और मुसलमानो के चाचा की लड़की ब्याहने, मुसलमानी आदि कराने का उन्होंने घोर विरोध किया है। पितरो का जल से तर्पण करना हिन्दुओ मे एक साधरण बात है, परन्तु कबीर का इस पर भी विश्वास न था। एक दिन जब वह नदी मे स्नान कर रहे थे, उन्होंने कुछ हिन्दुओ को तर्पण करते देखा। उन्हे देखकर उन्होंने भी पश्चिम की ओर जल डालना आरम्भ कर दिया। उन हिन्दुओ मे से एक ने यह देखकर पूछा—ऐ जुलाहे! यह तू क्या कर रहा है?

कबीर ने उत्तर दिया—मै एक खेत को सींच रहा हूँ, जो यहाँ से दूर है।

इस पर सब लोग हँसने और कबीर को मूर्ख बताने लगे।

कबीर ने कहा—तुम मुझसे बढ़कर मूर्ख हो, क्योकि तुम तो बैकुण्ठवासी पूर्वजो को जल पहुँचाना चाहते हो!" *

---

* का० ना० प्र० प० भाग ५ अंक ३ पृष्ठ २८८

कबीर कहते है—दाढ़ी-मूँछ मुड़ाने से क्या होता है ? यदि मुड़ाना है तो मन को मुड़ाओ, अपनी वासनाओं के ऊपर राज्य करो। उसी के अंदर शैतान अपना प्रभुत्व जमाये बैठा है।

माला तिलक लगाइकै, भक्ति न आई हाथ।
दाढ़ी मूँछ मुड़ाइकै, चलै दुनी कै साथ ॥

कबीर उन ज्ञानियों मे से नही थे, जो हाथ-पावँ समेटकर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बनकर रहते है। वह परिश्रम का रहस्य जानते थे और अपनी जीविका के लिए अपने ही हाथ का आसरा रखते थे। थोड़े मे ही संतोष करने का उन्होंने उपदेश दिया है। धन-धरती जोड़ना उनकी वृत्ति के विरुद्ध था। उन्होंने कहा भी है—

काहे कूं भीत बनाऊं टाटी, का जाणू कहँ परिहै माटी।
काहे को मंदिर महल चिनाऊं, मूवाँ पीछैं घड़ी एक रहन न पाऊं॥
काहे को छाऊं ऊंच उचेरा, साढ़े तीन हाथ घर मेरा।
कहै कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तैती भुईं लीजै॥

कबीर ने कथनी और करनी का भी ख़ूब विवेचन किया है। वह कहते हैं—संसार मे कहनेवाले तो बहुत मिलते है, परन्तु उसको करनेवाला कोई बिरला ही मिलता है। कहना खाँड़ के समान मीठा लगता है और करना विष के समान कड़ुवा; परन्तु कर्म करनेवालो को विष भी अमृत हो जाता है।

कबीर के विषय में दूसरा प्रश्न उठता है—हिन्दी-साहित्य मे कवि कबीर का स्थान कौन सा है। उत्तर में निवेदन है कि कबीर की कविता का सम्बन्ध रहस्यवाद से है। अतएव बिना यह समझे हुए कि रहस्यवाद क्या है, हम इसका निर्णय नहीं कर सकते। हम यह मानते हैं कि कबीर के काव्य मे रोचकता का ह्रास है, उनकी भाषा अक्खड़ है, उसमे दार्शनिक पदो का ही बाहुल्य है और वे पद भी अधिकतर पिंगलशास्त्र के नियमो के अनुसार नही है, परन्तु कबीर मे महान् कवि के सब लक्षण विद्यमान है। उनमे प्रतिभा है, मौलिकता है, ओज है, गाम्भीर्य है। उनके काव्य मे उनका हृदय प्रतिविम्बित है, अपनी निजी कल्पना का जीता-जागता चित्र है, अपना निजी संदेश है। उनके काव्य मे कोमलकान्त पदावली का अभाव अवश्य है। यदि आध्यात्मिकता को भौतिकता से श्रेष्ठ ठहराया जाय, तो कबीर का स्थान हिन्दी-साहित्य-कानन मे वही है, जो सूर और तुलसी का है। और यदि रहस्यवादियो की दृष्टि से देखा जाय, तो यह निर्विवाद है कि कबीर का स्थान जायसी से भी अधिक ऊँचा है।

अब हम यह दिखने का प्रयत्न करेंगे कि रहस्यवाद क्या है और कबीर का रहस्यवाद किस प्रकार का है।

इस संसार-चक्र का परिचालन एक अद्भुत अज्ञात शक्ति करती है, इसका अनुभव मनुष्य अनादि काल से करता चला आ रहा है। इस अज्ञात शक्ति का मनुष्य से क्या नाता है, इसी

का ज्ञान रहस्यवाद का अंतिम लक्ष्य है। अनत के सम्पर्क मे आने तथा उस "सत्ता" (Reality) को अपने इन नंगे छोटे-छोटे हाथो से पकड़ लेने की अभिलाषा उत्पन्न होना ही रहस्यवाद की सीढ़ी पर पैर रखना है। रूपहीन-चिंतन (Formless Speculation) द्वारा अपनी आत्मा की एकान्तता मे एक दैविक शक्ति के आभास का अनुभव करना ही रहस्यवाद का रहस्य है। रहस्यवाद कोई मोल ली जानेवाली मोतियो की लड़ी नहीं है। यह वह पाषाण-क्षेत्र है, जहाँ थोड़ा सा खोदने पर ही भ्रमात्मक पत्थर निकलने लगते है और जहाँ सच्चे हीरे पाने के लिए खोदनेवाले को बड़े परिश्रम एवं धैर्य्य की आवश्यकता होती है। जीवन के पूर्णांक (Life in its wholeness) सम्पर्क में आने पर ही हम उसके भाव तथा तात्पर्य्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते है; जीवन के आदि संगीत का अनुभव कर सकते है, अन्यथा नही। यह तभी सम्भव है जब हम अपने भावो और विचारो को सभिन्न कर 'वास्तविकता' (Reality) के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेनेवाले मनुष्यो के अनुभवो का सहारा ले। ये कवि है, सिद्ध है, भविष्यद्वादी है। ये वे लोग है जो अपने दिव्य चक्षुओ से उस "अनत-प्रकाश" का दर्शन कर चुके हैं। ये विकारहीन विचारो के प्रभु है, और अपनी अद्भुत, आत्मिक एवं मानसिक शक्तियो के पूर्ण विकासके कारण उस अंतर्ज्ञान के अधिपति है, जो भावात्मक वस्तुओ तक पहुँचने का एकमात्र साधन है।

रहस्यवादी का विकास कुछ इस प्रकार होता है :—

मनुष्य किसी वस्तु की खोज मे घूमता फिरता है, सहसा उसे एक तेजहीन ज्योति (Dazzling Vision) का आभास मिलता है। उसे प्रतीत होता है कि ज्ञान और बुद्धि दोनो उसकी प्रतीक्षा कर रहे है। बस, वह जीवन की वास्तविकताओ को भूल जाता है और मानसिक क्षेत्र की सूक्ष्म प्रवृत्तियाँ उसे अपनी ओर खीच ले जाती हैं। साधारण भाषा मे कहना होगा कि वह 'खो' जाता है। उसकी आत्मा उस 'अनन्त ज्योति" से इतनी प्रकाशित हो जाती है कि उसको अपने पूर्वजन्म की तनिक भी स्मृति नही रहती। जिस समय ज्ञानी इस दशा को पहुँच जाता है, उस समय वह पक्का रहस्यवादी हो जाता है। उस समय वृक्ष का डोलना उसे वृद्धावस्था के कम्पन का स्मरण दिलाता है, उसपर बैठनेवाले पक्षी उसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप जान पड़ते है और उस वृक्ष को काटनेवाला बढ़ई काल के रूप मे उसके सामने प्रस्तुत होता है। कबीर ने इसी रहस्य को देखकर एक स्थान पर कहा है—

> बाढ़ी आवत देखि करि तरिवर डोलन लाग।
> हम कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग॥

सायं-प्रातः न जाने कितने लोग मेघ-खंडों को रक्त-वर्ण होते देखते है, पर वे किस अनुराग से लाल हैं इसे कोई रहस्यवादी ही बता सकता है। मालियो का फूल तोड़कर एक स्थान पर रख

देना कौन नही देखता ! परन्तु कबीर जैसे रहस्यवादी ही उसमे संसार की अनित्यता का आभास पाकर कह सकते है—

> माली आवत देखि के कलियाँ करे पुकारि ।
> खिली-खिली तो चुन लई अब कालिह हमारी बारि ॥

कबीर ब्रह्म के जिज्ञासू है। जिज्ञासा का सम्बन्ध आत्म-ज्ञान से है। "जब जिज्ञासू ज्ञानी की कोटि पर पहुँचकर कवि होना चाहता है, तो स्वभावतया उसका ध्यान रहस्यवाद की ओर झुक पड़ता है। चिंतन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता-क्षेत्र मे आकर भावुकता और कल्पना का आधार पकड़कर इस रहस्य-वाद का रूप पकड़ लेता है।" इसी समय उसकी दृष्टि मे सृष्टि की प्रत्येक वस्तु दूसरी से एक अखंड सम्बन्ध मे जकड़ी हुई दिखाई पड़ती है। ऐसे समय कवि की भी सहृदयता अनन्य-हृदयता का रूप धारण कर लेती है और झरनो मे, निर्जन बन में, मर्मर करते हुए कानन मे, पुष्पो के पराग की गंध मे, मुग्ध पवन के मृदुल झोको मे, भक्त को केवल अपने ही प्रियतम की मधुर वाणी सुनाई देती है। वह खिले हुए फूलो मे, रमणी के स्मित आनन में, सुन्दर मेघमाला मे, निखरे हुए चंद्र-बिम्ब मे, अपने प्रियतम के सौंदर्य्य का, गम्भीर मेघ-गर्जन मे, बिजली की कड़क में, बज्रपात मे, भूकंप मे उसकी रौद्र मूर्त्ति का, ससार के असामान्य वीरों मे शक्ति का और परोपकारियो, त्यागियो एव

माता के स्नेह-पूर्ण चुम्बन मे उसकी शीलता, वत्सलता आदि का साक्षात्कार करता है ।

रहस्यवादी विशेषतया चार प्रकार के होते है :—

(१) भक्ति-उपासक (Devotional mystics) इनके विचार मे संन्यासी होकर परमात्मा का भजन करना ही सफलता की कुंजी है । आत्मिक एवं शारीरिक बल, निर्दिष्टता (definiteness), वीरतासूचक साहस, तीक्ष्ण बुद्धि, तीक्ष्ण व्यंग यही इनके सौम्य के लक्षण है ।

(२) दार्शनिक (Philosophical mystics) ये संन्यासी होकर संसार परित्याग करने के नही; वरन् घर पर ही विरक्त जीवन व्यतीत करने के पक्षपाती है ।

(३) प्रकृति-उपासक (Nature mystics) ये फूलो और पत्तो ही मे परमात्मा का साम्राज्य देखते हैं । इनका मत है कि मनुष्यात्मा पहले प्रकृति ही मे ईश्वर का अन्वेषण करती है । उसका सबसे पहला ईश्वर-ज्ञान प्रकृति-ज्ञान से भिन्न नही है । उसकी सबसे पहली पूजा प्रकृति-पूजा ही है । वह प्रत्येक पदार्थ का पूजन करती है, जो उसमे आश्चर्य्य और कृतज्ञता का सचार करे । यह प्रकृति का पूजन न तो विश्वदेववाद ही है और न अनेकदेववाद ही । यह तो केवल अपरिमित शक्ति का पूजन है, अर्थात् साधारण ईश्वर-

वाद तथा आस्तिकता है। हम केवल प्रकृति ही के द्वारा प्राकृतिक ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते है।

हम कबीर को इस तीसरी श्रेणी मे रखने के लिए प्रस्तुत नही है। प्राकृतिक सौंदर्य्य हृदय मे उपासना का भाव जागृत कर देता है, वासनाएँ शांत हो जाती है। कबीर इस भक्ति-भाव से प्रेरित अवश्य हुए थे, परन्तु चित्त की शान्ति ही वास्तविक सौंदर्य्य है, कबीर इससे अनभिज्ञ नही थे। यह शांति उन्हे फलो और फूलो मे प्राप्त न हो सकी। हाँ, इन सब ने भक्ति-भावना की ओर कबीर का ध्यान आकर्षित अवश्य कर दिया।

(४) प्रेमोपासक (Love mystics) इनके अनुसार "अज्ञात" से मिलाने का उपाय एक मात्र प्रेम है। इनके मतानुसार प्रेम केवल उच्छ्वास मात्र ही नही है, वरन् वह एक निग्रह-साधन भी है। इस मत के अनुयायी ब्रह्म की भावना अनन्त सौंदर्य्य और अनन्त गुण-सम्पन्न प्रियतम के रूप मे करते हैं। यही सूफ़ी मत है। सूफी लोग ब्रह्मानन्द का वर्णन लौकिक प्रेमानन्द के रूप में करते हैं और इस प्रसंग मे शराब, मद आदि को भी ले आते है। कबीर के ऊपर भी इस रंग का काफी असर है। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। आधुनिक प्रेम-ग्रस्त प्राणियो की इच्छा कायर की समर-

लालसा है, जो द्वंद्वी की ललकार सुनते ही विलुप्त हो जाती है, परन्तु कबीर प्रेम-मस्त प्राणियों में से है। कबीर के प्रेम में ममत्व नहीं, वरन आत्म-समर्पण है। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रियतम से साक्षात्कार होने पर कबीर कहते है—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं ही हो गई लाल॥

प्रेम की इसी शुद्ध एवं उच्चतम अवस्था में प्रियतम के प्रेमानुराग में स्मृतिमय होकर प्रेमी आह्लादित हो गाने लगता है—

हमन है इस्क मस्ताना, हमन को होसियारी क्या।
रहै आजाद या जग मे, हमन दुनियाँ से यारी क्या॥
जो बिछुड़े है पियारे से, भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममे, हमन को इतजारी क्या॥
न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्हीं से नेह लागी है, हमन को बेकरारी क्या॥
कबीरा इस्क का माता, दुई को दूरकर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या॥

हे परमात्मन् ! क्या इस मनोराज्य मे हमे भी स्थान मिलेगा ? क्या यह हलका-हलका नशा हम पर चढ़ेगा ? अनिर्वचनीय

आनन्द की यह भीनी झलक क्या कभी हमें भी देखने के लिए मिलेगी ? आह !

सो दिन कैसा होयगा गुरू गहिंगे बाँह ।
अपनाकर बैठावहिं चरन कमल की छाँह ॥

—सोमनाथ गुप्त

अयोध्याकांड के मुख्य पात्रों पर धर्म-संकट
और
उनका निर्वाह

रामचरितमानस का सबसे उत्तम अंश अयोध्याकांड कहा जाता है। इस कांड की दो विशेषताएँ है। प्रथम तो इस कांड में अन्य कांडो की अपेक्षा मानव हृदय तथा उसके भिन्न-भिन्न प्रकार के भावो का अधिक स्वाभाविक वर्णन मिलता है। दूसरी विशेषता यह है कि इस कांड मे प्राय: प्रत्येक मुख्य पात्र पर एक

या अनेक बार धर्म-संकट (Conflict of duty) पड़ा है और उसका बड़ा ही अच्छा निर्वाह हुआ है। पात्रो के सामने दो विरोधी कर्तव्य आ जाते है और उन्हे उन दोनो पर विचार करके अपना मार्ग निश्चित करना पड़ता है। यहाँ हम इस कांड की दूसरी विशेषता अर्थात् पात्रो के धर्म-संकट तथा उनके निर्वाह पर विचार करेंगे।

यह विचार करते समय कि अमुक पात्र ने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया है वह ठीक है या नही, एक बड़ी कठिनाई हमारे सामने आ जाती है। यदि हम उनको धार्मिक अवतारी अथवा आदर्शपुरुप की दृष्टि से देखते हैं, तो हमारा निर्णय कुछ और ही होता है, और यदि हम उन्हे राजनीतिक दृष्टि से देखते है तो हमारा निर्णय दूसरा होता है।

अयोध्याकांड मे सबसे पहले धर्म-संकट कैकेयी के सम्मुख उपस्थित होता है। वह राम का राज्याभिषेक सुनकर आनद मनाये या उनको बन भेजकर अपने पुत्र भरत को राज्य दिलाये। यथार्थ मे इसे हम धर्म-संकट नही कह सकते, क्योंकि यहाँ दो विरोधी कर्तव्य कैकेयी के सामने एक साथ नही आते। इसे हम अद्भुत विचार-परिवर्तन कह सकते है। फिर भी इस विचार-परिवर्तन पर विवेचना करना विषयान्तर न होगा, क्योंकि दोनो विचार है अत्यंत विरोधी।

मंथरा जब मुँह लटकाये राम के अभिषेक का समाचार कैकेयी

को सुनाने जाती है, तो कैकेयी उसे उदास देखकर सबसे पहले राम की कुशल पूछती है और भरत की उसके बाद। यथा—

'सभय रानि कह कहसि किन, कुसलु राम महिपालु।
लखन-भरत-रिपुदमन सुनि, भा कुबरी उर सालु॥'

इसके बाद जब मंथरा बताती है कि राम को कल राज्य मिलेगा तो कैकेयी को बड़ी प्रसन्नता होती है। वह कहती है—

'राम तिलकु जौ साँचेहु काली। देउं मॉगु मनभावन आली।'

मंथरा कैकेयी को अब यह समझाती है कि राजा ने जान-बूझकर भरत को ननिहाल भेजा है और कौशिल्या ने राम को राज्य दिलाने का यह अच्छा अवसर सोचा है। यह बात भी कैकेयी के हृदय मे राम के प्रति कोई विरोध उत्पन्न नही कर पाती, वरन् उसे चेरी का इस भाँति समझाना बुरा लगता है। वह मंथरा को आपस मे फूट कराने के लिए डॉटती है—

'पुनि अस कबहुँ कहसि घर फोरी। तब धरि जीभ कढ़ावौ तोरी।'

× × ×

'प्रानते अधिक रामु प्रिय मोरे। तिनके तिलक छोभु कस तोरे॥'

यहॉ तक तो कैकेयी का चित्त ठीक रहता है और राम का तिलक होना ही उसे सर्वथा उचित दिखायी देता है, परन्तु इसके बाद मंथरा का रूठकर यह कहना—

'अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ।'
'जर तुम्हारि यह सवति उखारी ।'
'भामिनि भयउ दूध की माखी ।'

आदि बातें उसका मन फेर देती है। वह राम की पक्की शत्रु हो जाती और कहती है--

'नैहर जनमु भरब बरुजाई। जियत न करब सवति सेवकाई।'

अब तो उसे केवल इतने ही से संतोष नहीं है कि भरत को राज्य मिले, वह यह भी चाहती है कि राम वन को अवश्य जायँ। उसे अब राम के नाश ही में अपना सुख दिखाई देता है।

कैकेयी का यह निश्चय, चाहे हम उसे किसी भी दृष्टि से देखें, उचित नहीं जान पड़ता। यदि हम कैकेयी को एक उच्चकुल की स्त्री मानकर इस पर विचार करें, तो उसका यह निर्णय नितान्त अनुचित है। अपनी ही सौत के लड़के राम को, जो उसे स्वयं अपनी माता से अधिक मानता है, विना किसी अपराध के वनवास दिलाना भला कौन उचित कहेगा। राजनीतिक दृष्टि से भी कैकेयी का यह कार्य अनुचित है। उसे विचार लेना था कि दशरथजी राम के बिना नहीं जी सकते तथा भरत को भी इससे प्रसन्नता न होगी। परन्तु जिस समय हमें यह स्मरण हो आता है कि कैकेयी की 'गई गिरा मति फेरि' तो तुरन्त ही वह हमें निर्दोष जान पड़ती है और सारा अपवाद भवितव्यता के ऊपर चला जाता है।

दूसरा धर्म-संकट राजा दशरथ के सामने उपस्थित होता है। वह अपने प्राणों से प्यारे राम को, कैकेयी को वचन दे चुकने के कारण, वन भेजें अथवा उन्हे घर रखकर अपने प्रण को तोड़ दे। उन्होने राम को तिलक करने की तैयारी यही जानकर की थी कि यह कार्य सब को अच्छा लगेगा। उन्हे स्वप्न मे भी यह ध्यान न आया था कि कैकेयी राम-वनवास का वरदान माँगेगी, अन्यथा वह उससे कभी वचन-बद्ध न होते। वह कैकेयी से कह रहे है—

'भामिनि भयेउ तोर मनभावा। घर-घर नगर अनद बधावा।'

परन्तु उसका मनभाया तो अब राम के वनवास ही मे है। दशरथजी यहाँ तक राजी हो जाते है कि भरत ही युवराज हो। राम वन न जाने पायें, चाहे उनके प्राण स्वयं ही क्यो न चले जायँ।

'मांगु माथ अबही देउं तोही। राम विरह जनि मारसि मोही।'

अन्त मे जब कैकेयी किसी भाँति नही मानती, तो उन्हे

'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जांहि बरु बचन न जाई।'

के अनुसार उसकी बात माननी पड़ती है। वह अपने वरदान देने से बड़े लज्जित होते है—

'हृदय मनाव भोर जनि होई। रामहिं जाइ कहै जनि कोई।'

दशरथ का यह निश्चय हमे तो उचित नही जान पड़ता। यद्यपि उन्होने अपना वचन कैकेयी को दे दिया था, तो भी वे उसका सब अवस्थाओं मे प्रतिपालन करने के लिए बाध्य नही थे। उन्होंने

यह समझते हुए वचन दिया था कि कैकेयी राम के विरुद्ध कभी कोई वरदान नही माँगेगी। राम की ही शपथ खाकर वचन देना इस बात का प्रमाण है—'भामिनि राम शपथ सत मोही।' यद्यपि यह रघुकुलरीति थी कि 'प्राण जाहिं बरु वचन न जाई' तथापि *दूसरी ओर यह भी ता रघुकुल-रीति थी कि युवराज-पद सबसे बड़े पुत्र ही को मिले, अतएव राजा दशरथ ने जब रघुकुल-रीति तोड़ी ही, तो पहली रीति तोड देते, जिससे सब काम बन जाता। हम समझते है कि दशरथ को उस विपत्ति के समय मे इस दूसरी रीति का ध्यान न रहा होगा, नही तो वह ऐसा निश्चय कदापि न करते।

तीसरा धर्म-संकट रामचन्द्रजी के सम्मुख उपस्थित होता है। उनका धर्म-सकट यह है कि वे पिता की आज्ञा मानकर वनवास करें अथवा उसे अनुचित समझकर अयोध्या मे रहे और राज्य करें। आज रामचन्द्रजी को कुलगुरु वशिष्ठ उनके घर जाकर उन्हे उनके राज्याभिषेक की सूचना देते है, जिसे सुनकर उनका सहज शुद्ध स्वभाव उसमे अनौचित्य पाता है। उनका स्वभाव उनसे यह कहलाता है—

'बिमल बंश यह अनुचित एकू। अनुज बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू।'

* बिमल बंस यह अनुचित एकू।
अनुज बिहाइ बड़ेहं अभिषेकू॥

दूसरे ही दिन उनको एक बिलकुल विपरीत आज्ञा मिलती है। कैकेयी की आज्ञा पाकर सुमंत रामचन्द्र को राजा दशरथ के पास बुलाने जाते है। कैकेयी से पूछने पर उन्हे सब बात मालूम होती है। राम को विदित होता है कि उन्हे चौदह बरस के लिए वनवास की आज्ञा मिली है। यद्यपि यह आज्ञा पहले दिन के निश्चय के बिलकुल विपरीत है, परन्तु उसे मानने मे वे तनिक भी सकोच नही करते, उसे अपना बड़ा भाग्य समझते है।

'सुन जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु-मातु बचन अनुरागी।'

यदि सच पूछा जाय तो राम के सामने यह धर्म-सकट आता ही नहीं है कि वह वन को जायँ या न जॉय। वे तो माता-पिता के आज्ञाकारी पुत्र है। उन्हे वन जाने मे प्रसन्नता होती है और यह प्रसन्नता और भी बढ़ जाती है, जब यही उनके पिता माता की भी आज्ञा है। वे कहते है—

'मुनिगन मिलनु बिसेपि बन, सबहि भॉति हित मोर।'
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, सम्मति जननी तोर॥

भरत का राज्य पाना भी राम के लिए कैसा आनंद-प्रद है—

'भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
विधि सब बिधि मोहिं सनमुख आजू॥

राम वहॉ से आकर हँसते हुए कौशिल्या के पास पहुँचे और उनको वनवास का समाचार इस भॉति सुनाया—

'पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू। जहँ सब भॉति मोर बड़ काजू॥

और उनसे बन जाने की आज्ञा माँगी। राम ने यहाँ 'अनुचित उचित विचार तज' कर और 'पितु बैन' पालन करके अपूर्व पितृ-भक्ति दिखलाई है। हमे यहाँ यह विचार करना है कि रामचन्द्रजी ने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया, वह ठीक है या नहीं। इस प्रश्न पर तुलसीदासजी के समकालीन तथा उनके परिचित सुकवि रहीम अपनी सम्मति इस भाँति देते है—

'अनुचित वचन न मानिये, यदपि गुरायसु गाढ़ि।
है 'रहीम' रघुनाथ तैं, सुजस भरत को बाढ़ि॥

इस विषय पर दो प्रकार से विचार करना उचित है। यदि हम राम को आदर्श पुत्र और—

'प्रसन्नतां यो न गतोभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखत.'

वाले विचारों को मानकर विचार करें तो उनका इस विषय का निर्णय सर्वथा उचित जँचता है। दूसरी ओर यदि हम राम को राजनीतिज्ञ मान लें, तब तो यही कहना पड़ता है कि राम ने बन जाकर भारी भूल की। हम देखते है कि सारी अयोध्या को उनके बन जाने की आज्ञा सुनकर दुःख हुआ है और अयोध्यावासी राजा दशरथ की इस आज्ञा को अनुचित मानते है। अतएव राम सहज ही मे बन न जाकर युवराजपद ले सकते थे। राम यह भी जानते है कि राजा दशरथ स्वयं भी उनके इस आज्ञा-उल्लंघन ही मे सुखी होगे।

वे उनके बिना जी नही सकते। उधर भरत भी उनके इतने भक्त है कि राम को युवराजपद ले-लेने मे उन्हे प्रसन्नता ही होगी। रघुकुल-रीति तो यह थी ही कि युवराजपद सबसे बड़े को मिले। अतएव राम अपने पिता की आज्ञा को न मानकर सारी आपत्तियो का निवारण कर सकते थे। परन्तु राम को तो यह रीति पहले ही अनुचित जान पड़ी थी, तब वे भला पितृ-आज्ञा उल्लंघन करके युवराजपद कैसे स्वीकार करते।

राम का बन जाना निश्चित होते ही एक साथ कई पात्रों पर धर्म-सकट आ पड़ते है। कौशिल्या राम को बन भेजे या न भेजे, सीता राम के साथ बन जॉय या घर रहे, यही प्रश्न लक्ष्मण के सामने भी है। सुमित्रा लक्ष्मण को राम की सेवा मे भेजे या नही और स्वय राम इन दोनो को बन ले जॉय या घर ही पर रहने की आज्ञा दें, एक अजब गड़बड़ी पैदा हो गयी है। प्राय प्रत्येक मुख्य पात्र के हृदय मे दो विरोधी कर्तव्यो का युद्ध हो रहा है। यहॉ हम इन सब पर क्रमशः विचार करेंगे।

कौशिल्या को राम-वनवास की आज्ञा सुनकर एक बड़ा भारी धक्का पहुँचता है। कहॉ तो वे इस विचार मे मग्न है कि आज राम को युवराजपद मिलेगा और कहॉ बिना किसी पूर्व सूचना के एकबारगी उनको राम वनवास की ख़बर मिलती है। यदि उन्हे इस बात की पहले से तनिक भी शका होती, तो उनके हृदय पर इतनी अधिक चोट न बैठती। वे राम-वनवास की बात

सुनकर बडे ही धर्म-संकट में पड जाती है। कौशिल्या के धर्म-संकट को गोस्वामीजी ने इस भाँति वर्णित किया है—

राखौ सुतहि करौ अनुरोधू। धरम जाइ अरु बंधुविरोधू॥
कहौ जान बन तौ बड़ि हानी। सकट-सोच-बिबस भै रानी॥

इस कठिनाई को सुलझाने की एक युक्ति कौशिल्या के ध्यान मे आती है। वह राम से यह पूछती है कि बन जाने की आज्ञा तुमको केवल तुम्हारे पिता ने ही दी है या कैकेयी ने भी। यदि पिता ने ही आज्ञा दी हो, तो मै तुम्हे बन न जाने की आज्ञा देती हूँ और तुम माता की आज्ञा पिता की आज्ञा से बड़ी जान कर घर पर रहो।

'जौ केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।'

परन्तु वहाँ तो माता व पिता दोनो की यही आज्ञा है, यह जानकर फिर कौशिल्या संकट मे पड़ जाती है। अंत मे उनका स्त्री-धर्म तथा राम और भरत दोनो के प्रति समान प्रेम उनसे राम को बन जाने की आज्ञा दिला देता है।

'बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। राम-भरत दोउ सुत सम जानी।
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरम क टीका।'

कौशिल्या के इस निर्णय पर विचार करते समय यद्यपि उनके स्त्री-धर्म को मातृ-धर्म पर प्रधानता देना कुछ अनुचित प्रतीत होता है, परन्तु उनका भरत को राम ही के समान अपना

पुत्र समझने का विचार इस अनौचित्य को बिलकुल दूर कर देता है। यदि किसी माता के दो समान पुत्र हों और उनमें एक को वनवास व दूसरे को युवराजपद मिलनेवाला हो, तो वह कैसे यह कहेगी कि दूसरे को युवराजपद न देकर पहले को दिया जाय। अतएव कौशिल्या का यह निर्णय अनुचित नहीं जान पड़ता।

राम के वनवास की बात सुन सीताजी व्याकुल हो उठीं। उनकी इच्छा यह हुई कि राम हमको भी अपने साथ ले चलें, परन्तु इस बात का विश्वास नहीं हुआ कि राम उन्हें ले ही चलेंगे। अतएव वे सोचती हैं—

'की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतब कछु जाइ न जाना।'

यह तो सीताजी निश्चय जानती हैं कि यदि राम उन्हें साथ न भी ले जायँगे, तो भी उनके प्रान अवश्य ही राम के साथ जायँगे। सीताजी को पहले कौशिल्याजी घर रहने के लिए समझाती हैं, परन्तु यह समझकर कि शायद राम के समझाने का उन पर ज़्यादा असर पड़े, वह राम से कहती हैं—

'जौं सिय भवन रहै कह अंबा। मोहिं कहँ होहि बहुत अवलंबा।'

राम सीता को अपनी माता के सामने समझाने में सकुचते हैं, परन्तु फिर अवसर का विचार करके सीता को शिक्षा देते हैं। वे वन के तरह-तरह के कष्ट बताकर और सीता की

सुकुमारता से उनकी तुलना करके, उन्हे हतोत्साह करना चाहते है। सीता यह सब सुनकर भी अपने निश्चय पर दृढ़ रहती है और राम की इन बातो का उत्तर बड़ी सुन्दरता से देती है। वे व्यंगमय वचनो मे राम से कहती है—

'मै सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप, मोकहँ भोगू।'

राम अब सीता को दूसरी ही प्रकार से समझाते है। वह सीता से कहते है कि तुम घर पर माता-पिता की सेवा करने के लिए रहो; माता-पिता की सेवा करना तुम्हारा धर्म है। जब वे हमारे बिछोह से दुखी हो, तब तुम उन्हे अपनी 'मृदुबानी' से समझाना। सीताजी को यह सब शिक्षा अनुचित जान पड़ती है। पतिव्रत के सामने 'सादर सास-ससुर-पद-पूजा' उन्हे फीकी ऊँचती है। अतएव वे कहती है—

'मै पुनि समुझि दीख मन माही। पिय वियोग सम दुख जग नाही।'

× × ×

'तनु धनु धामु धरनि सुरराजू। पतिबिहीन सब सोक-समाजू।'

अन्त मे उनका बन जाना तय हो जाता है और वह भी कौशिल्या से विदा माँगती है।

हमे सीताजी का यह निश्चय बिलकुल उचित जान पड़ता है। स्त्री का कर्तव्य यही है कि वह पति का विपत्ति मे भी साथ

न छोड़े, फिर भला सीता जैसी आदर्श स्त्री का तो यह कर्तव्य होना ही चाहिए।

रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त लक्ष्मण ने जब राम-वनगमन का समाचार सुना, तो वे घबड़ा गये। उनके मन मे यह शका आने लगी—

'मोकहँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा।'

राम उनको भी घर रहने की शिक्षा देते है और कहते है कि माता-पिना को सांत्वना देते रहना। लक्ष्मण अपने आराध्य-देव राम के वचनो का उत्तर नही दे सकते। उनकी समझ मे राम की बात को काटना अनुचित होगा, परन्तु घर पर न रहने की बेबसी को वे अपनी आकृति द्वारा प्रकट कर देते है वे एकबारगी कह उठते है—

'नाथ दासु मै स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ।'

× × ×

'मोरे सबइ एक तुम स्वामी। दीनबंधु उरअन्तरजामी।'

राम को लक्ष्मण की ऐसी दृढ़ प्रीति देखकर उन्हे वन ले चलने की स्वीकृति देना ही पड़ती है।

लक्ष्मण का यह कर्तव्य साधारण दृष्टि से बहुत उचित नहीं जान पड़ता। अवश्य ही किसी मनुष्य का कर्तव्य

अपने भाई के प्रति उतना नहीं होना चाहिए, जितना अपने माता-पिता के प्रति, फिर ऐसे विशेष अवसर पर, जब कि भरत व शत्रुघ्न भी घर पर नहीं है और माता-पिता पर विपत्ति पड़ी है, लक्ष्मण को अपने पिता की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था। यह तो बात ही और है कि लक्ष्मण राम ही को सर्वस्व समझते हो— 'मोरे सबइ एक तुम स्वामी।'

लक्ष्मण का सुमित्रा के पास बन जाने की आज्ञा लेने जाते ही सुमित्रा पर भी धर्म-संकट आ जाता है। वे मोह मे फँस-कर लक्ष्मण को बन जाने से रोके या उन्हे बन भेजें। इस सम्बन्ध मे सुमित्रा का निर्णय सर्वथा स्तुत्य है। यद्यपि लक्ष्मण अपनी माता से आज्ञा माँगने मे सकुचते है—

'माँगत बिदा सभय सकुचाही। जाइ संग, बिधि, कहहि कि नाही।'

परन्तु सुमित्रा अपने मोह को दबाकर लक्ष्मण को बन जाने की आज्ञा देने मे तनिक भी नही सकुचती, वरन् उन्हे राम-जानकी की सेवा करने का उपदेश देती है। वे अपने धर्म-संकट को तुरन्त ही दूर करके अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती है। उनकी निम्नलिखित सीख बड़ी ही जोरदार है—

'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही।'

× × ×

'जौ पै सीय-रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कुछ नाहीं।'

× × ×

'जेहि न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहै उपदेसू।'

सुमित्रा मे मोह को अपने हृदय से दूर हटा देने की शक्ति है। उनका लक्ष्मण को उपदेश आदर्श भ्रातृ-भक्ति का उपदेश है।

यदि सच पूछा जाय, तो अयोध्याकांड भर मे धर्म-संकट केवल भरत ही पर पड़ता है। वे दो विरोधी कर्तव्यो के बीच मे बुरी तरह पिस रहे है। एक ओर माता-पिता की उनके लिए यह आज्ञा है कि वह राज्य स्वीकार करें। कुल-गुरु इत्यादि भी उनको राज्य स्वीकार करने के लिए ही जोर दे रहे है। दूसरी ओर उनका अन्त.करण उनसे बार-बार कह रहा है कि यह आज्ञा अनुचित है। राम के साथ बड़ा ही अन्याय किया गया है, राज्य पाने के अधिकारी वे ही है, अतएव तुम यह पद स्वीकार न करो।

भरत अपने ननिहाल से लौटकर अयोध्या चले आ रहे है। भॉति-भॉति के अपशकुनो से उन्हे भावी अनिष्ट की सूचना मिल रही है। कैकेयी से मिलते ही वे अपने पिता तथा राम आदि की कुशल पूछते है। कैकेयी अपने मन मे समझती है कि भरत उसके बरदानो की बात सुनकर बहुत प्रसन्न होंगे। वे कहती है—

'तात बात मैं सकल सॅवारी। भइ मंथरा सहाय बिचारी।'

परन्तु भरत ज्यो ही दशरथ की मृत्यु तथा राम, सीता और

लक्ष्मण के वनवास की सूचना पाते है, त्योंही वे बड़े ही दुखी होते है। सबसे अधिक दुःख उन्हे इस बात का है कि उनके ही कारण इतना उपद्रव हुआ है। उनकी ही भलाई के लिए उनकी माता ने इतना बडा अनर्थ कर डाला। अतएव वे कह उठते है—

'बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।'

× × ×

कइकइ कत जनमी जग मांझा। जो जनमति भइ काहे न बांझा।
कुल कलंक जेहि जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही।'

भरतजी तुरन्त कौशिल्या के पास जाते है। उन्हे अब यह बात आवश्यक जान पड़ती है कि वे कौशिल्या आदि को यह विश्वास दिला दें कि वे स्वयं इस षडयन्त्र से बिलकुल अलग थे। वे सैकड़ो शपथ खाते है कि मेरी सम्मति से ये बरदान कदापि नही माँगे गये है।

'जे अघ मातु-पिता सुत मारे। गाइ-गोठ महिसुरपुर जारे।
जे पातक उपपातक अहही। करम-वचन-मन-भव कबि कहहीं।
ते पातक मोहि होहु बिधाता। जौं एहु होइ मोर मत माता।'

'जे परिहरि हरिहर चरन, भजहिं भूत घनघोर।
तेहि कै गति मोहिं देहु बिधि, जौ जननी मत मोर॥'

परन्तु वहाँ तो इन शपथो की आवश्यकता ही नही थी।

कौशिल्या का मन उनकी ओर से बिलकुल साफ था। तो भी भरत को यह निश्चय कराने के लिए कि उन्हे उनकी नेकनीयती का पूर्ण विश्वास है, कौशिल्या को यह कहना पडता है—

'मत तुम्हार एह जो जग कहही। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहही।'

राजा दशरथ के शव का दाह-संस्कार आदि करने के बाद वशिष्ठजी भरत को ज्ञानोपदेश करते है और उनसे पिता की आज्ञा मानने का अनुरोध करते है।

'अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितु बयन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति अयन॥'

ये उपदेश भरत के ध्यान मे बिल्कुल नहीं आते। वे अपनी बात पर दृढ़ रहते हैं और यह विचार करते है कि वे राम को बन से लौटाकर सिंहासन पर बैठाएं और स्वयं उनके बदले वन-वास करें। अतएव वे माताओ, कुलगुरु वशिष्ठ तथा समस्त फौज को लेकर राम-जानकी से मिलने चल दिये। चित्रकूट पहुँचकर भरत राम से मिले और उन्हे हर तरह से घर लौट चलने के लिए विवश किया, परन्तु राम ने बन से न लौटने की दृढ़ता दिखाई, और भरत को भी पिता की आज्ञा पालन करने का उपदेश दिया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस अवसर पर वशिष्ठजी भी भरत की ओर से पैरवी कर रहे है और राम से राज्य स्वीकार करने को कहते है। भरत ने अपने नम्र निवेदन को इस भाँति प्रकट किया है—

'सानुज पठइय मोहि बन, कीजिय सबहिं सनाथ।
नतरु फेरि यहि बंधु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ॥'

इससे यह प्रकट होता है कि भरत राम को अयोध्या लौटा ले चलने पर उतना जोर नहीं देते, जितना कि अपना राम के साथ रहने और उनकी सेवा करने पर। राम भरत को अयोध्या का प्रबन्ध करने के लिए लौटाना ही चाहते है और उन्हे अत्यन्त गम्भीर उपदेश देते है, जिसे सुनकर भरत को विवश होकर कहना पड़ता है—

'अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई।
सो अवलंब देउ मोहिं देई। अवधि पार पावौं जेहि सेई।'

यहाँ पर राम ने भरत को राज्य-शासन सम्बन्धी उपदेश दिया है। यह उपदेश तो भरत को बहुत उचित जॅचा, परन्तु बिना किसी आधार के उनका मन शांत न हुआ।

'बन्धु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। बिनु अधार मन तोषु न साँती।

अतएव राम ने उनको अपनी खड़ाऊँ दे दी और भरत उन्हे सादर लेकर चल दिये।

'प्रभु करि कृपा पांवरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्ही।'

उन्ही खड़ाउओं को सिंहासन पर रखकर और स्वयं तपस्वी और सेवक के समान रहकर राज-काज करने लगे। अब उनका यह नित्य-कर्म होगया—

'नित पूजत प्रभु पॉवरी, प्रीति न हृदय समाति।
मॉगि मॉगि आयसु करत, राज-काज बहु भॉति॥

जितना ही बिकट धर्म-संकट भरत के सामने उपस्थित हुआ है उतना ही अच्छा उन्होंने उसका निर्वाह भी किया है। उन्होंने एकबारगी राज्यसिंहासन स्वीकार न करके अपनी उदारता दिखाई है, अपने मन को भी समझा लिया है, और अन्त मे राज-काज भी अव्यवस्थित नही होने दिया है। राजा के कर्तव्य करते हुए भी उन्होंने राज्य के आनन्द का भोग नही किया है। उन्होंने अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन भी किया और उसका पालन भी किया है। राज्य-भार तो अंत में ग्रहण ही किया, परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी दिखा दिया कि वास्तव मे राज्य पर उनका कोई अधिकार नही है। वह तो राम ही को मिलना चाहिए था। राज-काज तो आप स्वयं सँभालते है, परन्तु राज्यसिंहासन पर राम की पादुका बैठी हैं। यदि भरतजी सीधे ननिहाल से आते ही राज्य ग्रहण कर लेते, तो वह केवल आज्ञाकारी पुत्र ही कहलाते, परन्तु ऐसा न करने से उनका चरित्र बहुत उज्ज्वल हो गया है। यहॉ यह न समझ लेना चाहिए कि भरत वास्तव मे राज्य करना चाहते थे; परन्तु अपने चरित्र को उज्ज्वल करने ही के लिए उन्होंने इतना दिखावा किया है। ऐसा समझना भरतजी को एक कमीना राजनीतिज्ञ मानना होगा और साधु भरत के प्रति अन्याय कभी क्षम्य नही हो सकता।

अन्त में हम देखते है कि इस कांड भर मे वास्तव मे केवल तीन धर्म-संकट आते है। पहला राजा दशरथ पर, दूसरा कौशिल्या पर, और तीसरा भरत पर। सब से बड़ा धर्म-सकट भरत के सम्मुख है और उसका निर्वाह भी उसी के अनुरूप हुआ है। हम दशरथ के धर्म-संकट-निर्वाह से सन्तुष्ट नही हैं। उनका अपनी कुटिल स्त्री से प्रतिज्ञाबद्ध होकर उसीके वचन को सब परिस्थितियो मे प्रतिपालन करना ठीक नही जॅचता। उन्हे ऐसे अनुचित निर्णय का फल भी उनकी मृत्यु के रूप मे तुरन्त ही मिल गया। कौशिल्या ने अपने धर्म-संकट का हमारे विचार में उचित निर्वाह किया है।

यहाँ पर यह दिखा देना अनुचित न होगा कि हमारे कवियो की रचनाओ मे धार्मिकभावो के आजाने के कारण, कला की दृष्टि से, उनमे कैसी असम्बद्धता आ जाती है। इतना सब उपर्युक्त विचार करने के बाद भी ज्योंही हम इस बात को याद दिलानेवाली कोई पंक्ति पढ़ते हैं कि राम, दशरथ आदि पात्र जो कुछ कहते या करते हैं वह अपनी प्रेरणा से नही, वरन् एक और ही कार्य के निमित्त; तो इन पात्रो के कार्यों की वास्तविकता जाती रहती है। कौशिल्या व दशरथ का राम के लिए विलाप, सीता का बन जाने के लिए अनुरोध आदि बातें बनावटी और अवास्तविक लगने लगती है। ऐसा जान पड़ता है कि राम, दशरथ, सीता आदि पात्र किसी नाटक का अभिनय कर रहे हैं। —बलभद्रप्रसाद गुप्त

कविवर नन्ददास

की

रास-पञ्चाध्यायी

प्रस्तावना

जिस समय महाप्रभु बल्लभाचार्य उत्तरीय भारत में अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर रहे थे, उस समय ब्रजभाषा प्रौढ़ता के पद पर पहुँच चुकी थी, उसमे उच्चकोटि का साहित्य निर्माण करने की शक्ति आ गई थी, किन्तु अभी तक भाषा पर किसी का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित नही हुआ था। वह समय धार्मिक आन्दोलन का था। चारो ओर धर्म-जागृति की लहर उमड़ रही थी।

किसे परवा थी जो भाषा के सौष्ठव पर ध्यान देता ? यही क्या कम था कि कुछ वर्ष पहले "काशी का जुलाहा" अपनी 'रमैनी' और 'बीजक' मे भाषा का कुछ राग अलाप गया था। चाहे उसका उद्देश अपने 'पंथ' का प्रतिपादन ही क्यो न रहा हो, किन्तु उसने अपनी भद्दी भाषा मे भी वह सजीवता भरी कि हमारी भाषा के आचार्य भी उसकी भाषा की सादगी और सजीवता का लोहा मानने के लिए तैयार है। यद्यपि कबीर साहब का उदाहरण सामने मौजूद था, किन्तु बल्लभाचार्य के पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने भाषा को बोलचाल का खिलौना ही समझकर छोड़ दिया था। पर इस समय भाषा का भाग्य ही दूसरा होना था। बल्लभाचार्य के नये मत-प्रचार के इस परम उद्वेलित महासागर में भी भाषा-सौन्दर्य्य की एक ऐसी लहर आई, जिसका रूप-सौन्दर्य्य सारे संसार ने देखा। धर्म के महत्त्व से भाषा का महत्त्व कही आगे बढ़ गया। जिस भाषा के सहारे नया मत जनता मे फैलाया जा रहा था, वह धर्म तो एक ओर रहा, भाषा सर्वत्र व्याप्त हो गई।

ब्रजभाषा की इस उन्नतावस्था ने कवियो के हाथ मे ऐसी सामग्री दी, जो वास्तव मे विश्व-साहित्य का निर्माण कर सकती थी। एक ओर तो भाषा का उन्नत स्वरूप "करतलगत आमलक" की भाँति कवियो के निकट था, दूसरी ओर थी बल्लभाचार्यजी की राधा-कृष्ण की प्रेम-कहानी। एक

ओर उत्तम रंग था, तो दूसरी ओर चित्रपट। ऐसी अवस्था मे काव्य-चित्र के निर्माण मे रुकावट ही क्या थी। एक साथ हज़ारो लेखनियाँ चल पड़ी। सभी मे राधा-कृष्ण का नाम था, ब्रजभाषा का मधुर रंग था, और भावुक हृदय की उत्सुक उमङ्ग थी। पर सभी लेखनियाँ एक ही कथा को एक ही भाँति नही लिख सकी—अव्वल, दोयम, सोयम का मज़मून हटाये नही हट सका।

बल्लभाचार्यजी के चार शिष्य थे। वे भी बल्लभाचार्यजी के स्वरो मे श्रीकृष्ण-चर्चा किया करते थे। बल्लभाचार्यजी के एक पुत्र भी था, जिनका नाम बिट्ठलनाथ था। बिट्ठलनाथ ने भी शिष्य बनाने में अपने पिता का अनुकरण किया। उन्होने भी चार शिष्य बनाये। इस प्रकार अपने और पिता के चार-चार शिष्यो को मिलाकर उन्होने 'अष्टछाप' की स्थापना की। प्रस्तुत कवि नन्ददासजी उसी 'अष्टछाप' मे बिट्ठलनाथ के शिष्य थे। शिष्यत्व के सिवाय उन्होने काव्य की वह प्रतिभा दिखलाई कि उनका शिष्यत्व उनके कवित्व से कोसो दूर पीछे रह गया। उन्होने भी राधा-कृष्ण की उपासना मे लीन होकर लेखनी उठाई। तन्मय होकर उन्होने जो कुछ लिखा, वह अद्वितीय है। उन्होने मानो माधुर्य्य के प्याले में अपनी लेखनी डुबाकर लिखा था। हमें नन्ददासजी की कविता पढ़ कर जयदेव के—

'ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।'

आदि पद याद आ जाते है।'

नन्ददासजी ने मुख्यतः चार-पॉच ग्रन्थो की रचना की है। उन सभों मे 'रासपञ्चाध्यायी और भॅवरगीत' मुख्य है। केवल यही ग्रन्थ कवि को अमर कर देने के लिए पर्य्याप्त है।

रचना-काल

शिवसिंह-सरोज के अनुसार यह ग्रन्थ संवत् १५८५ के लगभग बना। यह संवत् केवल अनुमान पर ही निर्भर है, क्योंकि स्वयं नन्ददासजी ने किसी भी स्थान पर न तो अपने ग्रन्थ की तिथि का और न अपनी आयु ही का विवरण दिया है। भक्तमाल मे भी इनकी आयु का कोई विवरण नही है। अतएव जब तक हमे कोई निश्चित तिथि न मिले, तब तक हमे शिवसिंह के अनुमान पर ही संतोष रखना होगा।

रचना का कारण

इसकी रचना के विषय में नन्ददासजी ने स्वयं अपनी पुस्तक के प्रारम्भ मे एक कारण दे दिया है:—

परम रसिक इक मित्र, मोहिं तिन आज्ञा दीनी।

ताही ते यह कथा यथामति भाषा कीनी॥

नन्ददास का यह मित्र कौन था, इस विषय में अनेक मत है। अधिकतर यही अनुमान किया जाता है कि गंगाबाई

बिट्ठलनाथजी की एक शिष्या थी, नन्ददासजी की उन्ही से मित्रता थी और उन्ही के कहने पर उन्होने रासपञ्चाध्यायी की रचना की।

कथानक

रासपञ्चाध्यायी मे श्रीकृष्ण की रास-लीला रसीले दोहा और रोला छंद मे वर्णित है। इसमे कुल पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय के प्रारम्भ मे शुकदेवजी का शिख-नख वर्णन बड़ी ही मनोहर रीति से किया गया है। तत्पश्चात् श्रीवृन्दावन की छवि के वर्णन के साथ शरद्-रजनी की शोभा अङ्कित की गई है। उसी समय हम श्रीकृष्ण को मुरली मे स्वर भरते हुए पाते है। फलतः सभी ब्रजगोपिकाएँ उस मुरली-स्वर से आकृष्ट हो उसी वन मे आ जाती हैं। पर जब श्रीकृष्ण उन्हे स्त्री-धर्म की शिक्षा देकर घर लौट जाने के लिए कहते हैं तो वे सभी "बालमृगन की माल" के समान स्तब्ध रह जाती है। इस अवसर पर गोपियो की दशा का बड़ा ही भाव-पूर्ण चित्र खींचा गया है। कभी उलहना दिया गया है, कभी प्रेम-प्रदर्शित किया गया है, और कभी मरने का भय दिखलाया है। अंत मे मनमोहन गोपियो की बात मानकर कुञ्ज मे विहार करते है। इस पर गोपियो का हृदय कुछ गर्वित हो उठता है। यह देखकर श्रीकृष्ण कुछ देर के लिए अंतर्धान हो जाते है। यही रासपञ्चाध्यायी का पहला अध्याय समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय मे गोपिकाएं श्रीकृष्ण को प्रत्येक कुञ्ज मे खोजती हुई लता-वृक्षो से कृष्ण का पता पूछती है। यह वर्णन बहुत ही सरस और करुणा से ओतप्रोत है।

तृतीय अध्याय मे गोपिकाओ का सच्चा और मनोहर प्रलाप है। कही-कही उनका उपालम्भ बहुत ही मनोहर है। वे सभी कृष्ण से पुन. दर्शन देने की याचना करती है। व्याकुलता का बड़ा ही विदग्ध चित्र खीचा गया है।

चतुर्थ अध्याय मे श्रीकृष्ण पुनः प्रकट होते है और गोपिकाएं विरह के पश्चात् बड़ी उत्सुकता और उमङ्ग के साथ मिलती है। यह मिलना बड़ा ही स्वाभाविक और सुन्दर है। अंत मे श्रीकृष्ण गोपियो से अपने अपराध की क्षमा माँगते है।

पाँचवे अध्याय मे श्रीकृष्ण की रास-लीला का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। पद-योजना इस प्रकार की गई है कि रास का दृश्य आँखो के सामने खिँच जाता है। फिर जल-क्रीड़ा होती है और प्रातःकाल होने के पूर्व गोपियाँ अपने-अपने स्थान को चली जाती है। अध्याय के अन्त मे नंददासजी ने कथा का माहात्म्य कहकर इस "उज्ज्वल रस-माल" को अपने कण्ठ मे बसने की प्रार्थना की है।

आधार

नन्ददासजी ने अपनी रास पञ्चाध्यायी का कथानक मुख्यतः भागवत ही से लिया है। उसमे अनेक स्थलो पर भागवत की कथा का ही रूपान्तर है, किन्तु

हम यह नही कह सकते कि नन्ददासजी ने भागवत के वे अश चुरा लिये है अथवा उनकी नकल कर ली है। उन्होने जो बातें भागवत से ली है, वे इस प्रकार व्यक्त की गई है कि उन पर मौलिकता का रङ्ग नजर आता है। उनकी वर्णन-शैली और शब्द-माधुर्य्य मे भागवत का अश भी नन्ददास कृत मालूम पडता है। यही नन्ददासजी की काव्य-शक्ति का उत्कृष्ट प्रमाण है। कथानक चाहे एक ही हो, किन्तु दोनो की वर्णन-शैली मे विभिन्नता है। हम तो यही कहेगे कि यद्यपि नन्ददासजी-रचित रास के पॉच अध्यायो के लिए भागवत दशमस्कन्ध के २९ से लेकर ३३ अध्याय तक के ऋणी है, किन्तु वे भावापहरण के दोषी कदापि नही ठहराये जा सकते।

रासपञ्चाध्यायी का दूसरा आधार हरिवंशपुराण कहा जा सकता है, क्योकि उस पुराण के विष्णु-पर्व में उसी रास का वर्णन है, जिसका वर्णन नन्ददासजी ने अपनी पञ्चाध्यायी मे किया है। पुराण मे उसका नाम 'हल्लीस-क्रीड़न' दिया गया है। इसी रास के आधार पर हम रासपञ्चाध्यायी को हरिवंश पुराण का ऋणी मान सकते है।

पञ्चाध्यायी का तृतीय आधार हम जयदेव का 'गीतगोविन्द' मानते है। यद्यपि गीतगोविन्द और रासपञ्चाध्यायी के कथानक मे आकाश-पाताल का अन्तर है, तथापि दोनो की प्रवाह-गति, मधुरता और शैली एक ही सॉचे मे ढली हुई है। नन्ददास

जी ने कदाचित गीत-गोविन्द के माधुर्य्य के वशीभूत होकर ही अपने काव्य की रचना की है। दोनो की मधुरता का ढँग एक ही है।

अब हमे रासपञ्चाध्यायी के काव्य पर विचार करना है। मुख्यतः काव्य के दो उपादान होते है। प्रथम संसार-निरीक्षण और दूसरा कौशल। संसार-निरीक्षण की क्षमता उस कवि मे होती है जो वाह्य और अन्तर्प्रकृति के ध्यान मे अन्तर्हित होकर कल्पना और मनोवेगो के संयोग से अपने भावो की अभिव्यक्ति करता है। उसे ससार के भिन्न-भिन्न व्यापारो का पूर्ण ज्ञान रहता है। वह प्रज्ञाचक्षु होकर किसी भी वस्तु का उत्कृष्ट वर्णन करने मे समर्थ होता है। इसका विवेचन हम 'कौशल' की मीमांसा के बाद करेंगे।

काव्य

काव्य के दूसरे उपादान 'कौशल' को हम दो भागो मे विभक्त करते हैं। प्रथम स्थान मे किसी कवि का कौशल तब प्रकट होता है जब वह अपने काव्य की अन्तरात्मा का स्वरूप निश्चित करता है—उसमें रस, गुण आदि की सृष्टि करता है। दूसरे स्थान में कवि का कौशल उस समय दृष्टिगत होता है जब वह काव्य का वाह्य रूप (पदयोजना, अलंकार, छन्द आदि) निर्धारित करता है। जो कवि जितना प्रतिभाशाली होगा वह उतनी ही उत्कृष्ट रीति से दोनों प्रकार के कौशल दिखलाने मे समर्थ

होगा। इसीके अनुसार हम नन्ददासजी के दोनों प्रकार के काव्य-कौशल पर विचार करेंगे।

रस

पहले काव्य की अन्तरात्मा का स्वरूप लीजिये। नन्ददास जी ने अपने काव्य मे रस और गुण की सृष्टि बडी सुन्दरता के साथ की है। रसो में उन्होने शृंगार, करुणा और शान्ति का वड़ी विशद रीति से वर्णन किया है। कुछ महाशयो (?) का कथन है कि नन्ददासजी ने अपनी रचना में शृंगार रस की प्रधानता रक्खी है और उसमें अश्लीलता की बू आ जाती है। किन्तु मै यह पूछता हू कि शृंगार को प्रधान स्थान देने में दोष ही क्या है? वह रसराज है। हाँ, यदि नन्ददास जी "प्राकृत शृंगार लिखते तो उनके महत्त्व मे धब्बा लग सकता था, किन्तु उन्होने जिस शृंगार का वर्णन किया, जिस भाव का प्रतिपादन किया, वह लौकिक नहीं, अलौकिक है, दिव्य है—स्तुत्य है।" उदाहरणार्थ शुद्ध शृंगार रस के निम्न दो पंक्तियाँ ही पर्य्याप्त होगी—

इहि बिधि बिविध बिलास हास सुख कुंज सदन के।
चले जमुनजल क्रीड़न, ब्रीड़न कोटि मदन के॥

कितना सरस शृंगार-वर्णन है!

नन्ददासजी ने करुण रस के वर्णन करने मे भी हद करदी है। आँसुओ की स्वच्छ मालाओ मे उन्होने जो हृदय-वेधी भाव

गूँथे है, उन्हे हम केवल अनुभव कर सकते है, कह नही सकते। इस प्रकार का करुण रस हिन्दी-साहित्य मे बहुत-कम है:—

प्रनत मनोरथ करत चरण सरसीरुह पिय के।
कह घटि जैहै नाथ, हरत दुख हमरे हिय के॥
कहँ यह हमरी प्रीति, कहाँ तुमरी निठुराई।
मनि पखान ते खचै दई तें कछु न बसाई॥
जब तुम कानन जात सहस जुगसम बीतत छिन।
दिन बीतत जिहि भाँति हमहिं जाने पिय तुम बिन॥
जब कानन ते आवत सुन्दर आनन देखै।
तब यह बिधना क्रूर करि धरी नैन निमेखै॥

अन्त मे शान्त रस का कितना उज्ज्वल स्वरूप है!

श्रवन कीरतन ध्यान सार सुमिरन को है पुनि।
ज्ञान-सार हरि-ध्यान-सार, श्रुतिसार गुथी गुनि॥
अघहरनी, मनहरनी सुन्दर प्रेम बितरनी।
नन्ददास के कण्ठ बसौ नित मङ्गलकरनी॥

रास पञ्चाध्यायी मे दो गुणो की प्रधानता है। वे दोनो

गुण

गुण है, माधुर्य्य और प्रासाद। माधुर्य्य तो इतनी उच्च श्रेणी का है कि हमे यह कहने में सङ्कोच नही है कि यह कविता शहद से भी अधिक मीठी है। प्रत्येक पद मानो अंगूर का एक गुच्छा है, जिसमें मीठा रस भरा हुआ है। शब्दो की कोमलता भी हद दरजे की है।

पंक्तियो में न तो संयुक्ताक्षर है और न लम्बे चौड़े समास ही। शब्दो की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। जो कुछ कहा गया है वह भी बहुत थोड़े शब्दो मे और सुन्दरता के साथ। "अर्थ अमित अति आखर थोरे"। रास-वर्णन कितना मधुर और मनोहर है।

नूपर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली॥
मृदुल मधुर टंकार ताल झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदुपद पटकनि चटकनि कटतारन की।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की।
सॉवरे पिय के संग नृतत या ब्रज की बाला॥
जनु घनमंडल मंजुन खेलति दामिनिमाला॥

पदो मे प्रसाद गुण का भी अच्छा स्थान है।

नव मरकत मनि स्याम कनक मणिगण ब्रजबाला।
वृन्दावन को रीझि मनो पहिराई माला॥

काव्य का वाह्य रूप सजाने मे भी नन्ददासजी का कौशल दर्शनीय है। पद-योजना का सुन्दर आयोजन है। मुख्य-मुख्य अलङ्कारों का विस्तार और छन्द का स्वच्छन्द प्रवाह है। नीचे के उद्धरणो मे यह कथन और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा।

पद-योजना, अलंकार, छंद

१ पदयोजना

या बन की बर बानक या बन ही बन. आवै।
सेस महेस सुरेस गनेसहु पार न पावै॥

× × ×

बैठे पुनि तिहिं पुलिनहि परमानन्द भयौ है।
छबिलिन अपनो छादन-छबि सुबिछाय दयौ है॥

२. अनुप्रास

हे चन्दन, मुखदंदन सब की जरन जुड़ावहु।
नँदनन्दन, जगबन्दन चन्दन हमहि बतावहु॥
कोमल किरन अरुन मानो बन ब्याप रही यो।
मनसिज खेल्यो फाग घुमड़ घुरि रहो गुलाल ज्यो॥

३. रूपक—नव मरकत मणि श्याम, कनक मणिगण ब्रजबाला।
४. उत्प्रेक्षा—बृन्दावन को रीझि मनो पहिराई माला॥

इसके अतिरिक्त अन्य अलंकार भी सुन्दर रीति से सजाये गये है, पर स्थानाभाव से उन सबका वर्णन नही किया जा सकता।

छंद

समस्त ग्रन्थ रोला और दोहा छन्दो में लिखा गया है। रोला छन्द लिखने मे नन्ददासजी को बहुत सफलता मिली है। भावो के अनुसार ही छन्द का प्रवाह है। किन्तु कही कही यति पर विचार नही किया गया। जैसे—

"मोहनलाल रसाल की लीला इनही सोहै"।

बहुत से पिंगल के आचार्यों का कथन है कि रोला मे ११ और १३ मात्रा की यति से २४ मात्राएँ होनी चाहिए। इसके अनुसार नन्ददासजी की रचना मे यतिभंग दोष आ जाता है, किन्तु बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" ने नागरी प्रचारिणी-पत्रिका मे "रोला के लक्षण" शीर्षक लेख मे सिद्ध कर दिया है कि—

"रोला छन्द मे ग्यारह मात्राओ पर विरति होना आवश्यक नही है, पर यदि हो तो अच्छी बात है।" अतएव इस सिद्धान्त के अनुसार हम यति के सम्बन्ध मे नन्ददासजी को निर्दोष मानते है।

अब नन्ददासजी की संसार-निरीक्षण शक्ति पर दृष्टि डालिए।

भाव निरीक्षण

कवि के मनोवेगों के साथ प्रकृति का गहरा सम्बन्ध है। इसका एक कारण है। मनोवेग मनुष्य के हृदय में स्वभावतः ही उत्पन्न होते है। उसके बोलचाल मे—हावभाव मे—मनोवेगो की झलक ही नही रहती वरन् पूर्ण प्राधान्य रहता है। यदि यो कहे कि मनुष्य का बोल-चाल और हावभाव मनोवेगो द्वारा ही शासित होता है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतएव मनोवेगो की उत्पत्ति स्वभाव से ही होती है। स्वभाव और प्रकृति पर्य्यायवाची शब्द हैं। इसलिए हम इस सिद्धान्त पर पहुँच जाते हैं कि सच्ची कविता, जिसमे मनोवेगो

का साम्राज्य रहता है, प्रकृति के बाहर जा ही नही सकती। उनकी सृष्टि कवि के अतर्जगत मे होती है। सच्ची कविता मे जो बाते होगी वे प्रकृति के अनुसार होगी। इस प्रकार की कविता मे हम सदैव 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार पायेगे। नन्ददासजी ने इस प्रकार की कविता करने मे अपनी काव्य-कला का अच्छा परिचय दिया है। उन्होने मनुष्य के हृदय के गूढ़तम भावो को बड़ी बारीक नज़र से देखकर उन्हे ललित शब्दो मे स्पष्ट प्रकट कर दिया है। वे सयोग और वियोग के वास्तविक रहस्य को जानते थे। उन्हे इसका पूर्ण ज्ञान था कि अपने सुहृद् आत्मीय का अचानक वियोग हो जाने पर संयोग के विचारो से ओत-प्रोत हृदय मे कैसा गूढ़तम परिवर्तन हो सकता है। वे यह भी जानते थे कि आँसुओ से भरी आँखो के सामने यदि अकस्मात् बिछुड़ा हुआ प्रियतम आ जाय तो हृदय की क्या दशा होगी। संयोग और वियोग की वास्तविक स्थिति मानो उन्होने दूरबीन से देखी थी।

वियोगिनी ब्रजबालाओं का स्वाभाविक वियोग-कथन कितना भावपूर्ण, कितना करुणाजनक है!

नैन मूंदिबो महा अस्त्र लै हाँसी हाँसी।
मारत हो कित सुरतनाथ बिन मोल की दासी॥

विष तें जलते ब्याल अनल तें दामिनि झरतें।
क्यों राखी नहिं मरन दई नागर नगधर तें॥

प्रेम में मीठे-मीठे उपालम्भ भी कितने स्वाभाविक होते हैं :—

जसुदासुत जनु तुम न भये, पिय अति इतराने।
बिस्व-कुसल कारन बिधना बिनती करि आने॥

वियोग के बाद आकस्मिक संयोग की छटा कितनी स्वाभाविक है।

कोउ चटपट सो झपटी, कोउ पुनि उरवर लपटी।
कोउ गर लपटी कहत भले जू कान्हर कपटी॥

कोउ नागर नगधर की गहि रहि दोउ कर पटकी।
मनो नव घन ते सटकी दामिनि दामन अटकी॥

प्रथम अध्याय में शरद् ऋतु की राका-रजनी खिली हुई है। उस निस्तब्ध एवं मनोरम काल मे श्यामसुन्दर ने जोगमाया सी मुरली उठाई। वह ओठों के स्वर से मिली। ध्वनि उठी। कलगान चारो ओर गूँज उठा। ब्रजबनिताओं ने उस गाने को सुना। उनके हृदय उल्लसित हो उठे। जिस ओर से ध्वनि आ रही थी उसी ओर उन्होंने अपने पैर बढ़ा दिये। श्रीकृष्ण के कानो में धीरे-धीरे नूपुर की मधुर ध्वनि पहुँची। उस ध्वनि से श्रीकृष्ण कितनी सुन्दर रीति से सजग हुए—सुनिये—

जिनके नूपुरनाद सुनत जब परम सुहाये।
तब हरि के मन नयन सिमिटि सब स्रवननि आये॥

रुनुक भुनुक पुनि भली भाँति सो प्रगट भई जब।
पिय के अँग-अँग सिमिट मिले हैं रसिक नयन तब॥

कितना स्पष्ट स्वाभाविक चित्र है। मानो हम स्वयं श्रीकृष्ण को ऐसी उत्सुक और ध्यानावस्थित दशा मे विचलित देखते है। गोपियो की नूपुरध्वनि सुनने के लिए उनके नेत्र और हृदय कानो के पास सिमट आये हो और जब नूपुर ध्वनि स्पष्ट हो जाती है तो उन्हे देखने के लिए श्रीकृष्ण का प्रत्येक अंग आँखो से मिलना चाहता है। केवल इसी स्थल से हमे ज्ञात हो जाता है कि नन्ददासजी मे साधारण से साधारण भावो के अनुसार मुख पर आई हुई मुद्रा को उसी समय पहचानने की कितनो विलक्षण शक्ति थी। यह थी नन्ददासजी की स्वभावोक्ति और उनका उच्चकोटि का भाव-प्रदर्शन !

प्रकृति-वर्णन

'स्वाभाविक भाव-प्रदर्शन' के अतिरिक्त 'प्रकृति' शव्द का एक मतलब और है। वह है वाह्य जगत का नैसर्गिक सौन्दर्य्य। अंग्रेजी मे इसे 'नेचर पेन्टिङ्ग' (Nature Painting) कहते है। इसके पर्याय हिन्दी मे इसे 'प्रकृति-वर्णन' कहेगे। यह प्रकृति-वर्णन कवि के वैयक्तिक सिद्धान्तो के अनुसार बदला करता है। अंग्रेजी मे वर्डस्वर्थ (Wordsworth) का प्रकृति-वर्णन टेनीसन (Tennyson) के प्रकृति-वर्णन से सर्वथा भिन्न है। उसका कारण यह है कि वर्डस्वर्थ ने प्रकृति को सजीव मानकर अपनी सहचरी समझा

है; किन्तु टैनीसन ने प्रकृति को मानवीय विचारो के चित्र के लिए केवल चित्रपट समझा है। उसने प्रकृति का अस्तित्व हृदय के विविध विचारो के समयानुकूल प्रदर्शन के लिए ही माना है। हिन्दी के प्राचीन कवियो का भी प्रकृति के लिए अन्ततः यही विचार था। वियोग मे उनकी प्रकृति वियोगिनी बनकर रोती थी और सयोग मे उनकी प्रकृति मे हर्ष के चिन्ह नज़र आते थे। यद्यपि यहाँ-वहाँ इस सिद्धान्त के कुछ प्रतिवाद अवश्य देखने मे आते है पर मुख्यतः यह स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन कवि टैनीसन की भाँति प्रकृति को अपने भावो ही के रंग मे रँगते थे।

नन्ददासजी के प्रकृति-वर्णन पर तीक्ष्ण दृष्टि डालने से हम उसे तीन भागो मे विभाजित कर सकते है:—

(१) प्रकृति का सुख देनेवाला साधारण वाह्य चित्राङ्कन।

(२) आगामी कार्यों के क्रीड़ास्थल के उपयुक्त प्रकृति का रूप-प्रदर्शन।

(३) केवल अलंकार के रूप मे लाने के लिए ही प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपो का प्रयोग।

पहले हम प्रथम प्रकार के प्रकृति-वर्णन पर विचार करते है। इस प्रकार के वर्णन मे हमे प्रकृति एक नवयौवना स्त्री के समान दृष्टिगोचर होती है जिसका स्वाभाविक शृंगार नेत्र और हृदय

को आनन्द देनेवाला है। प्रकृति के प्रत्येक अङ्ग मे हम स्त्री के वाह्य सौन्दर्य्य की झलक पाते '। इस प्रकार के वर्णन मे कवि की रचना-शैली सीधी और केवल भाव-व्यञ्जक होती है ऊपरी सजावट और बनावट पर कवि का ध्यान कम रहता है। वह वर्णन करता है केवल सजीव सौदर्य्य का और वह भी सीधे शब्दो में। नन्ददासजी का इस प्रकार का वर्णन यह है: —

कुसुम धूरि धूमरी कुञ्ज मधुकरनि पुञ्ज जहँ।
ऐसेहु रस आवेस लटकि कीनो प्रवेस तहँ।
नव पल्लव की सैनी अति सुखदैनी सरसे।
सुँदर सुमन ससि निरखत अति आनँद हिय बरसे।

दूसरे प्रकार के वर्णन मे नन्ददासजी प्रकृति का रूप इस भाँति वर्णन करते है कि आगे होनेवाले कार्यों की तीव्रता बढ़ती है। अथवा यो कहिए कि उनमें उद्दीपन होता है। जिस प्रकार नाटक में श्रृंगार कथानक की सरसता, रंगमंच के दृश्य मे उपवन, राज्य-प्रासाद या चन्द्र-दर्शन के होने से और भी बढ़ जाती है। उसी प्रकार कथानक का वेग और भी तीव्र करने के लिए नन्ददासजी ने प्रकृति का सहारा लेकर कथानक के अनुकूल ही वायुमण्डल की सृष्टि कर दी है। प्रथम अध्याय में कृष्ण की मुरली की ध्वनि को अधिक जादूभरी और प्रभावशालिनी बनाने के लिए कवि ने शरद् की निस्तब्ध रात्रि का सहारा लिया है। प्रकृति यहाँ उद्दीपन-विभाव का काम करती है। देखिये —

कोमल किरन अरुन मानो बन व्याप रही यो ।
मनसिज खेल्यो फागि घुमड़ घुरि रह्यो गुलाल ज्यो ॥
फटिक छटा सी किरन कुंज रंध्रन जब आई ।
मानहु बितन बितान सुदेस तनाव तनाई ॥
मन्दमन्द चल चारु चन्द्रमा अति छबि पाई ।
झलकत है जनो रमारमण पिय कौतुक आई ।
तब लीनी करकमल जोगमाया सी मुरली । इत्यादि ।
....

यहाँ कविता के चित्र के लिए प्रकृति ने सचमुच ही चित्रपट का रूप ले लिया है ।

नन्ददासजी के तृतीय प्रकार के प्रकृति-वर्णन मे कोई विशेषता नहीं है। यह तरकीब हिन्दी कवियो में बहुत मामूली है। पर यह ध्यान मे रखना उचित होगा कि नन्ददास ने जो कुछ लिखा, अपनी प्रतिभा के ज़ोर से लिखा । प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपो का प्रयोग केवल अलङ्कार लाने के बहाने उन्होने किया अवश्य है, पर बहुत कम। कारण यह है कि वे वास्तव में अलङ्कार के उतने प्रेमी नहीं थे, जितने भाव के। अतएव ऐसे वर्णन जहाँ कहीं भी आये हैं, यदि उनमें अलंकार है, तो भाव का भी सर्वथा अभाव नहीं है। वे लिखते हैं:—

टूटी मुक्तनमाल छूटि रही साँवरे ऊपर।
गिरि ते जिमि सुरसरी गिरी द्वै धार धारिधर ॥

यहाँ माला टूटने का भाव इतना जबर्दस्त है कि अलंकार की लगाम से ही वह रुक सकता है। और अलंकार भी इतनी बढ़िया रीति से 'फिट' हुआ है कि वह भाव की सुन्दरता को और भी अधिक परिवर्द्धित कर नेत्र के आगे चित्र-रूप में आ खड़ा होता है। यह कविवर नन्ददास के प्रकृति-वर्णन की प्रतिभा का स्वरूप है।

अब हम रास-पञ्चाध्यायी की कुछ विशेषताओं पर विचार कर यह लेख समाप्त करेंगे।

विशेषताएँ

कुछ विद्वानो का कथन है कि रास-पञ्चाध्यायी एक स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थ नही है। नन्ददासजी ने श्रीमद्भागवत का भाषा में जो अनुवाद किया था उसीके एक हिस्से का रूप रास-पञ्चाध्यायी है। हमें अभी इस बात पर बहस नही करनी है कि नन्ददासजी ने वास्तव मे श्रीमद्भागवत का अनुवाद किया था या नहीं—सम्भव है किया हो, और न भी किया हो। हमे तो केवल यह विचार करना है कि रास-पञ्चाध्यायी एक स्वतन्त्र रचना है अथवा नही। जब हम पंचाध्यायी को गहरी दृष्टि से देखते है तो पता चलता है कि वह एक स्वतन्त्र रचना है। इसके कई कारण हैं। पहला तो यह है कि कवि ने आरम्भ मे श्रीशुकदेवजी का शिखनख-वर्णन करते हुए बड़ा अच्छा मंगलाचरण लिखा है। यदि यह रचना

श्रीमद्भागवत की होती तो इसके आरम्भ मे मंगलाचरण लिखा ही नही जाता ।

दूसरा कारण स्वयं नन्ददासजी लिखते है कि उनके एक रसिक मित्र ने यह कथा लिखने के लए उनसे अनुरोध किया था ।

तीसरा कारण यह है कि कथानक का प्रवाह एक ही वेग से आगे बढ़ता जाता है। उसका सम्बन्ध अन्य किसी कथानक से है भी नही । श्रीमद्भागवत के 'रास' अध्याय मे तो लिखा है कि चीर-हरण के समय श्रीकृष्ण ने गोपियो को वचन दिया था कि वे शरदऋतु मे इसका बदला रास-लीला से देगे, पर नन्ददास जी की पञ्चाध्यायी मे इसका कही उल्लेख नही है। इससे ज्ञात होता है कि यह एक स्वतंत्र रचना है, जो अन्य कथाओं की छाया से रहित है ।

एक कारण और है। अन्त मे नन्ददासजी इस पञ्चाध्यायी को इस प्रकार समाप्त करते है, मानो वे एक पूरे ग्रंथ की समाप्ति कर रहे है—

अघहरनी मनहरनी सुन्दर प्रेम-बितरनी ।
नन्ददास के कठ बसौ नित मङ्गलकरनी ॥

इससे हम अन्त मे यही निश्चित करते है कि नन्ददासजी ने

यह रचना स्वतत्र रूप से लिखी है, इसका सम्बन्ध अन्य किसी ग्रन्थ की रचना से नही है।

दूसरी विशेषता है—इसकी भाषा। ब्रजभाषा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप यदि हम कही पा सकते है तो वह यह पञ्चाध्यायी ही है। भाषा का प्रवाह बहुत ही स्वाभाविक और सरस है। हम आज़ाद के शब्दो मे इनके लिए भी कह सकते है कि "इनके अल्फाज़ मोती की तरह रेशम पर ढलकते हुए चले आते हैं।" शब्दो का विकृत रूप कहीं भी देखने मे नहीं आता। सभी शब्द यथास्थान इस प्रकार सजे हुए है, मानो किसी ने रत्नो को जड़ दिया हो। सचमुच नन्ददास 'जड़िया' थे।

हे अवनी नवनीत चोर चितचोर हमारे।
राखे कितहुँ दुराय बता देउ प्रानपियारे॥

तीसरा गुण है इनके अनुप्रास की विशेषता। नन्ददासजी की रचना मे अनुप्रास इस तरह स्वाभाविक रीति से चला आता है, मानो इनके शब्द-भण्डार में अनुप्रासयुक्त शब्दो के अतिरिक्त और कोई शब्द ही नही था। अनुप्रास भी इस तरह आया है कि उससे भावो की लेश-मात्र भी क्षति नही होती। इसी में कवि की प्रतिभा का परिचय है।

जो रज अज सिव खोजत जोजत जोगी जन हिय।
सो रज बन्दन करन लगीं सिर धरन लगीं तिय॥

इनकी रचना का चौथा गुण है चित्र-शक्ति। नन्ददासजी जिस वस्तु का वर्णन करते हैं, वह वर्णन इतना यथार्थ और स्वाभाविक होता है कि उसका चित्र आँखों के सामने भूल जाता है।

सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजत भारी,
हियो सरोवर रसभरि चलि मनो उमँगि पनारी।

इन शब्दों के प्रवाह मे 'पनारी' के तीव्र गमन का चित्र है।

रचना का पाँचवा गुण है ईश्वरोन्मुख प्रेम। प्रत्येक शृंगार-स्थल पर ईश्वर के प्रति भक्तिभाव की भी अभिव्यक्ति होती है। गोपिकाओ के विहार और गर्व का मतलब नन्ददासजी ने अन्तिम दो पंक्तियों में बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है।

निपट निकट घट में जो अन्तरजामी आही।
बिषै विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताही॥

रचना का छठवाँ गुण है उनके शब्दों का चुनाव। नन्द-दास जी ऐसे उपयुक्त शब्दो का चयन करते हैं, जो सर्वथा कविता के भाव-व्यञ्जक हैं:—

इत महकत मालती चारु चम्पक चितचोरत।
उत घनसार तुसार मिली मन्दार झकोरत॥

यहाँ 'महकत' 'तुसार' और 'झकोरत' शब्द कितने उपयुक्त है। इन शब्दो के पर्यायवाची शब्द इन पंक्तियो की भाव-व्यञ्जना में ओछे उतरेंगे।

रासपञ्चाध्यायी में गुण बहुत अधिक और दोष 'यदि है भी तो' बहुत कम है। हज़ारो गुणों के सामने दो-एक दोष छिप भी जाते हैं। एक स्थान पर एक-ही शब्द और एक-ही भाव की पुनरुक्ति होने से काव्य का सौष्ठव नष्ट हो गया है:—

बालकुँअर पौगण्ड **धर्मरुचि** लिये ललित तन।
धर्मी नित्य किसोर कन्ह मोहत सब को मन॥

यहाँ 'धर्म-रुचि' और 'धर्मी-एक' ही भाव के द्योतक होने से काव्य की सुन्दरता को ख़राब कर देते है।

एक स्थान पर उपमा का बहुत बुरा स्वरूप दृष्टिगत् होता है:—

अधर सुधा के लोभ भईं हम दासि तुम्हारी।
जो लुब्धिन पदकमल, चंचला कमला नारी॥

कहीं-कहीं शब्द तथा वाक्य-रचना निम्न कोटि की हो गई है:—

भ्रू विलसत जु बिभूत जगत जगमग रहि जित तित।
जो लक्ष्मी निज रूप रहत चरनन सेवत नित॥

यहाँ विभूति का विलसता और लक्ष्मी का चरण-सेवा करने का संयोग कितना अस्पष्ट है!

इन छोटे-मोटे दोषो से काव्य की महत्ता मे अन्तर नही आ सकता। माधुर्य्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य मे रास-पञ्चाध्यायी एक ही रचना नज़र आती है। महाकवि तुलसी और सूर चाहे और बातो मे नन्ददासजी से बाज़ी मार ले जायँ, पर माधुर्य मे नन्ददासजी अद्वितीय है। यदि तुलसी की कविता भागीरथी-सी और सूर की पदावली यमुना के सदृश है, तो नन्ददास की मधुर कविता सरस्वती के समान होकर कविता-त्रिवेणी की पूर्ति करती है!

—रामकुमार वर्म्मा

पृष्ठ ६५ से २०८ तक के मुद्रक—रामप्रसाद वाजपेयी,
कृष्ण-प्रेस, हिवेट रोड, प्रयाग।

[ले० इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी के हिन्दी के प्रोफ़ेसर
बाबू रामकुमार वर्म्मा एम० ए०]

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा के लिए स्वीकृत
पाठ्य-ग्रंथ

इसमे कविता, कहानी, रङ्गमञ्च और समालोचना—हिन्दी-साहित्य के इन चार अङ्गो पर विशद विवेचन किया गया है। हिन्दी में इस ढंग की अभी तक कोई पुस्तक नही निकली। अगर आप हिन्दी-साहित्य के प्रेमी हैं तो हमारा यह दावा है कि आप इस पुस्तक को पढ़े बिना रह नहीं सकते। इन्टरमीजिएट से लेकर एम्० ए० क्लास तक के हिन्दी के विद्यार्थियों तथा हिन्दी-साहित्य-सम्सेलन की मध्यमा और उत्तमा परीक्षा के परीक्षार्थियों के लिए तो बड़े ही काम की चीज़ है। छपाई-सफ़ाई मनोहर, सजिल्द प्रति का मूल्य १) मात्र

साहित्य-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग।